प्रकाशकीय

ज्ञान मनुष्य का तृतीय नेत्र है। यह नेत्र पूर्व कर्म-क्षयोपशम से स्वयं भी खुल सकता है और किसी किसी के गुरु जनों के उपदेश व शास्त्र-स्वाध्याय से भी खुलते हैं। उपादान तो आत्मा स्वयं है किंतु निमित्त भी बहुत मूल्यवान होता है। गुरु-उपदेश और शास्त्र-स्वाध्याय का निमित्त प्राप्त होना भी अति महत्त्वपूर्ण है।

शास्त्र-स्वाध्याय के लिए सद्ग्रन्थों की उपलब्धि आवश्यक है। हमारी संस्था सत्साहित्य के प्रकाशन में प्रारम्भ से ही रुचि ले रही है और अनेकानेक साधन जुटाकर पाठकों को कम मूल्य में उपयोगी व महत्त्वपूर्ण साहित्य उपलब्ध कराने में प्रयत्नशील रही है। संस्था के प्राणसम आधार एवं चक्षु-सम मार्गदर्शक युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी महाराज इस दिशा में बहुत ही जागरूक हैं। आपकी प्रेरणा व मार्गदर्शन में संस्था ने कुछ ही वर्षों में आशातीत प्रगति की है, और भविष्य में भी अनेक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन योजनाधीन हैं।

दो वर्ष पूर्व युवाचार्य श्री जी की भावना के अनुसार विदुषी श्रमणी रत्न महासती श्री उमरावकुंवरजी महाराज ने आचार्य श्री हरिभद्र कृत योग ग्रन्थों का सम्पादन व संशोधन करवाया था। महासती जी के मार्गदर्शन में विद्वान डा० छगनलाल जी शास्त्री ने इन चारों ग्रन्थों का सुन्दर सम्पादन विवेचन कर एक अनूठा कार्य किया है।

वर्तमान में योग के प्रति आकर्षण बढ़ता जा रहा है। शांति आनन्द और आरोग्य का मूल योग है, योग से ध्यान सिद्ध होता है और योग व ध्यान की—अभ्यास साधना से ही आज के तनावपूर्ण युग में मानव को शांति सुलभ हो सकती है। हमारी संस्था ने कुछ वर्ष पूर्व आचार्य श्री हेमचन्द्र के योगशास्त्र का हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन किया था जो काफी लोकप्रिय हुआ। योग के महान आचार्य हरिभद्र की कृतियाँ प्रायः दुर्लभ थीं। स्वाध्याय प्रेमी जन इनके लिए प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं कर पा रहे थे। अब युवाचार्य श्री तथा महासती उमरावकुंवर जी एवं डा० छगनलाल जी के प्रेरणा मार्गदर्शन एवं सम्पादन श्रम से ये चारों दुर्लभ ग्रन्थ सुलभ हो रहे हैं, इसके लिए हम भी गौरव है।

जैन योग ग्रन्थ चतुष्टय' के प्रकाशन का निर्णय गत वर्ष नोखा चान्दावतां के चातुर्मास में लिया गया। नोखा चान्दावतां यद्यपि एक बहुत ही छोटा-सा ग्राम है, किन्तु वहां के मूलनिवासी धनी मानी धार्मिक व उद्यमी सज्जन बड़े ही उदार व उत्साही हैं। वि. सं. २०३७ का ऐतिहासिक वर्षावास नोखा में ही सम्पन्न हुआ। इस चातुर्मास में अनेक विशाल आयोजन व समारोह हुए। तपस्याएं हुईं। दान की सरिता बही। स्वधर्मि वात्सल्य का अनूठा उदाहरण देखने को मिला। यहां के मूल निवासी तथा दक्षिण प्रवासी श्रावकों ने जो उत्साह व उदारता दिखाई वह वास्तव में चिर स्मरणीय रहेगा। इस चातुर्मास में उपप्रवर्तक शासनसेवी स्थविरवर स्वामी श्री व्रजलाल जी महाराज, युवाचार्य प्रवर श्री मधुकर मुनि जी म० व्याख्यान वाचस्पति श्री नरेन्द्र मुनि जी तपस्वीराज श्री अभय मुनि जी युवा कवि एवं साहित्यकार मुनि श्री विनयकुमार जी 'भीम' तथा विद्याभिलाषी सेवाभावी श्री महेन्द्रमुनि जी 'दिनकर' आदि ठाणा ६ से विराजमान थे। तपस्वी श्री अभयमुनि जी ने मासखमण तप कर तपोमहिमा की तो गुरुदेव श्री के प्रवचनों से प्रभावित समाज ने दान व त्याग भाव रूप धर्म की विजय गरिमा बढ़ाई।

इस वर्ष की महत्ता [illegible] विदुषी [illegible] महासती श्री उमरावकुंवर जी 'अर्चना' तपस्विनी विदुषी स्वाध्याय रसिका महासती श्री उम्मेदकंवर जी म. सती श्री [illegible] जी म. सती श्री [illegible] जी म. सती श्री सुप्रभा जी म. सती श्री प्रतिभा जी म. [illegible] श्री मुक्ता जी म. एवं सती श्री [illegible]प्रभा जी म. आदि ठाणा [illegible] ने भी इस चातुर्मास की शोभा में चार चाँद लगाए थे।

[illegible] चातुर्मास की स्मृति में ही नोखा श्री संघ के [illegible] ग्रन्थ के प्रकाशन में उदारता पूर्वक सहयोग दिया। जिसका [illegible] है। ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण में [illegible] तथा [illegible] अनुक्रमणिका बनाने में [illegible] सहयोग प्राप्त हुआ। हम [illegible] आभारी हैं तथा [illegible] में प्रस्तुत है—

मंत्री—मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन

स्वाध्याय ध्यान योग साधना निरत

विदुषी जैन श्रमणी

महासती श्री उमरावकुंवरजी 'अर्चना'

भारतवर्ष की संस्कृति अत्यन्त व्यापक, उदार तथा विशाल है। यह वैदिक, जैन तथा बौद्ध परम्परा की त्रिवेणी के रूप में भिन्न भिन्न मार्गों से बहती हुई भी समन्वय के संगम पर पहुंची। यह इसकी अपनी वैशिष्ट्य है। इन तीनों ही परम्पराओं द्वारा आविष्कृत विचार दर्शन के सुधा कणों से इसका संनिर्माण हुआ। अतएव यह सर्वदा और सर्वथा सुधास्यन्दिनी रही और आज भी है।

इस संस्कृति के निर्मापक, परिपोषक तत्त्वदर्शन एवं वाङ्मय का गहन अध्ययन हो, इसमें मैं इसके समुन्नयन एवं विकास का बीज पाता हूं। इस दृष्टि से साहित्य असीम विभावना और व्यापकता लिए हुए है, जो संस्कृति के प्रकृष्ट प्राण प्रतिष्ठापक रूप में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता आ रहा है। इस प्रसंग में मैं संस्कृति, साहित्य तथा दर्शन के क्षेत्र में कार्यरत विद्वानों, अनुसंधित्सुओं तथा साहित्यिकों का विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करना चाहूंगा कि वे अपने तुलनात्मक अध्ययन, अनुशीलन के सन्दर्भ में जैन वाङ्मय का विशेष रूप से पर्यवेक्षण करें। सामष्टिक अध्ययन से चिन्तन की परिपक्वता निष्पन्न होती है।

जैन आचार्यों, विद्वानों, लेखकों तथा कवियों ने ऐसा पुष्कल साहित्य रचा, जिसने भारतीय संस्कृति तथा जीवन दर्शन के विकास एवं संवर्द्धन में बहुत बड़ा योगदान किया। इनमें एक अत्यन्त उत्कृष्ट विद्वान तथा महान् ग्रन्थकार थे—याकिनी महत्तरा सूनु आचार्य हरिभद्र सूरि, जिनका समय ई. सन् ७००—७७० माना जाता है। उन्होंने साहित्य की विविध विधाओं में अनेक ग्रन्थ रचे। योग पर भी उन्होंने चार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की, जो पाठकों के समक्ष प्रस्तुत पुस्तक के रूप में उपस्थापित हैं।

योग एक महत्त्वपूर्ण विषय है, जिसका जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आज योग को लेकर देश विदेश में अनेक प्रवृत्तियाँ चल रही हैं। योग क्या है, जीवन में उसका क्या स्थान होना चाहिए—इसे यथावत् रूप में समझने की आज सबसे बड़ी आवश्यकता है। जैनयोग ग्रन्थों में—विशेषतः इन ग्रन्थों में इन विषयों पर बड़ा मार्मिक तथा तलस्पर्शी विवेचन हुआ है। अतएव इनके पठन पाठन की अपनी विशेष उपयोगिता है।

उदार दानदाताओं का संक्षिप्त परिचय

- श्रीयुत जेठमल जी मुल्तानचन्द जी चोरडिया। मूल निवासी—नोखा चांदावतों का। व्यवसाय—मद्रास। स्वभाव से सरल तथा श्रद्धालु सुश्रावक।
- श्रीयुत विजयराज जी किशनचन्द जी कांकरिया। मूल निवासी—हरसोलाव। व्यवसाय—विल्लुपुरम् १० रामराज स्टोर विल्लीपुरम्। स्वाध्यायी सुश्रावक।
- श्रीमान पुखराज जी बाफना। मूल निवासी — हरसोलाव जिला नागौर। व्यवसाय—मद्रास। स्वाध्याय प्रेमी समाज सेवा में सक्रिय।
- श्रीमान सम्पतराज जी मुथा। मूल निवासी — पादोलया। व्यवसाय—मद्रास। धर्मप्रेमी समाज सेवा में सक्रिय।

उक्त महानुभावों ने साहित्य प्रचार एवं ज्ञानानुराग से प्रेरित होकर पुस्तक प्रकाशन में उदारतापूर्वक अर्थ सहयोग प्रदान किया है। हमें विश्वास है भविष्य में भी इसी प्रकार आप महानुभावों का सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

—चांदमल चोपड़ा

मन्त्री—मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन

ब्यावर (राज०)

इस सन्दर्भ में हमारा चिन्तन है कि जैन बौद्ध तथा वैदिक परम्पराओं के उन तत्त्व-द्रष्टाओं का वह साहित्य समीक्षा अनुसन्धान तथा तुलनात्मक विश्लेषण के साथ प्रकाश में आए जिसमें जिज्ञासुओं को योग के सन्दर्भ में सही दिशा प्राप्त हो सके। जैसा पहले संकेत किया गया है योग साम्प्रदायिक प्राचीरों से सर्वथा मुक्त है। यहाँ जो बौद्ध वैदिक एवं जैन प्रभृति नामों का उल्लेख हुआ है वह परम्परा विशेष की ऐतिहासिकता के सूचन के दृष्टिकोण से है।

सामाजिक स्थितियों की शृंखलाएं कुछ इस प्रकार की रही हैं कि हम न चाहते हुए भी साम्प्रदायिक बन जाते हैं। फलतः जिस परम्परा से हम सम्बद्ध होते हैं उसके अतिरिक्त इतर परम्परा के उच्चकोटि के महापुरुष तथा उन द्वारा रचित महत्त्वपूर्ण उपयोगी साहित्य की अज्ञात और अधिगत करने की हमारे मन में बात नहीं आती अन्यथा योग वाङ्मय पर एक अद्भुत और अभिनव चिन्तन देने वाले आचार्य हरिभद्र सूरि आदि मनीषी योग जगत् के लिए क्या इतने अज्ञात या अल्पज्ञात रहे पाते जितने आज वे हैं। इतना ही क्या आचार्य हरिभद्र जिस परम्परा के थे आज उस परम्परा के लोग भी उनको अधिकांशतः यथार्थ रूप में नहीं जानते क्योंकि प्रायः हम वहिर्दृष्टा हो गये हैं जो योग के अनुसार हमारी अधस्तन दशा है। योग तो अपने विस्मृत स्वरूप को स्वायत्त कर लेने की दिव्य यात्रा का प्रशस्त पथ है जिसे यथावत् रूप से समझने और अनुसृत करने का अर्थ है जीवन में उस शान्ति को प्रादुर्भूत करना जिसके लिए क्या धनी क्या सत्ताधीश क्या जनसाधारण—सब लालायित हैं।

मैं भारतीय दर्शन, वाङ्मय तथा प्राच्य भाषाओं का अध्येता रहा हूं। उनके परिशीलन मनन तथा अनुसंधान में जीवन का दीर्घकाल मैंने लगाया है जिसे मैं अपने जीवन की आत्मिक हो सही सार्थकता मानता हूं। अपने अध्ययन अन्वेषण के सन्दर्भ में जब मैं उद्भट मनीषी महान् ग्रन्थकार स्वनामधन्य आचार्य श्री हरिभद्र सूरि के ज्ञान विज्ञानोद्भासित व्यक्तित्व के संपर्क में आया उस महान सरस्वती-पुत्र से अत्यधिक प्रभावित हुआ। यह कहना अतिरंजित नहीं होगा कि आर्हत परम्परा में आचार्य हरिभद्र एक ऐसे जीवन वैभव को लेकर उद्भासित हुए जो अनेक दृष्टियों से अनुपम था अद्भुत था। भारतवर्ष की विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं को निकट से देखने परखने समझने का सौभाग्य उन्हें विशेषरूप से प्राप्त हुआ। वैदिक परम्परा के ब्राह्मण कुल में उनका जन्म हुआ था। चित्रकूट या चित्तौड़ के राजपुरोहित के पद पर वे आसीन रहे। वेद उपनिषद् स्मृति पुराण व्याकरण न्याय आदि अनेक विषयों के वे पारगामी विद्वान थे। प्रगाढ़ विद्वत्ता के साथ-साथ सरल निश्छल और निर्दम्भ व्यक्तित्व के वे धनी थे। एक विशेष घटना के सन्दर्भ में उन्हें जैन धर्म के सम्पर्क में आने का सुअवसर प्राप्त हुआ जिसने उन महान् प्रज्ञा पुरुष का जीवन ही बदल दिया। उनकी आस्था जैन दर्शन और धर्म के साथ सम्पन्न हो गई। जब ज्ञान

अन्तर्मुखी हो जाता है तो वह बाधा नष्ट कर देता है। आचार्य हरिभद्र के साथ ऐसा ही हुआ। उन्होंने परम-त्यागमय श्रमण जीवन के स्वीकार में विलम्ब नहीं किया। तत्काल श्रमण प्रव्रज्या अंगीकार कर उन्होंने जैन आगम दर्शन न्याय तथा तत्सम्बद्ध अन्यान्य शास्त्रों का अनवरत परिशीलन किया। क्षयोपशमजनित प्रतिभा का सुयोग उन्हें प्राप्त था ही। श्रम के सान्निध्य से प्रतिभा कर निष्पत्ति लाने में कितना सफल होती है आचार्य हरिभद्र सूरि के जीवन से यह स्पष्ट है। थोड़े ही समय में उन्होंने जैन विद्या की अनेक शाखाओं पर असाधारण अधिकार प्राप्त कर लिया। उनके अध्ययन चिन्तन से जिज्ञासु तथा मुमुक्षुजन लाभान्वित हों उस हेतु उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की जो आगम व्याख्या दर्शन कथाकृति आदि अनेक रूपों में प्रकाश में आए। जैन वाङ्मय के क्षेत्र में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण असाधारण देन उन्होंने और दी, वह है उनका जैनयोग सम्बन्धी साहित्य।

भारत के साधना-क्षेत्र में उस समय योग का विशेष प्रचार था। योग के सन्दर्भ में बहुमुखी चिन्तन प्रकाश में आ रहा था ग्रन्थ रचनाएं हो रही थीं। एक ओर शैवयोगी नाथयोगी हठयोगी अपने-अपने साधना क्षेत्र में प्रवृत्त थे तथा दूसरी ओर सहजयान या वज्रयान का अपना योगक्रम चल रहा था जिसे सहज यानी सिद्धयोगी अपनी दृष्टि से विकसित कर रहे थे। यह सब देख परम प्रबुद्ध मनीषी अनेक शास्त्र निष्णात परमोच्च साधक आचार्य हरिभद्र सूरि के मन में सम्भवतः एक ऐसी सत्स्फुरणा हुई हो कि जैन साधना पद्धति को भी जैन योग के रूप में अभिनव विधा के साथ प्रस्तुत किया जाए। उसी का फल है उन्होंने जैन योग पर योगदृष्टि-समुच्चय योगबिन्दु योगशतक तथा योगविंशिका नामक चार ग्रन्थ लिखे। उनमें पहले दो संस्कृत में हैं तथा अंतिम दो प्राकृत में। इनके अतिरिक्त शास्त्रवार्तासमुच्चय षोडशक अष्टक आदि अपने अन्यान्य ग्रन्थों में भी उन्होंने यथाप्रसंग योग की चर्चा की है। आचार्य हरिभद्र महान् विद्वान् होने के साथ-साथ महान् अध्यात्मयोगी भी थे। इसलिए उनके जीवन के कण कण में योग मानो अनुस्यूत था। उन्हें योग में बड़ी निष्ठा थी जो उनके निम्नांकित शब्दों से प्रकट होती है—

योग उत्तम कल्पवृक्ष है उत्कृष्ट चिन्तामणि रत्न है—कल्पवृक्ष तथा चिन्तामणि रत्न की तरह साधक की इच्छाओं को पूर्ण करता है। वह (योग) सब धर्मों में मुख्य है तथा सिद्धि—जीवन की चरम सफलता—मुक्ति का अनन्य हेतु है।

जन्म रूपी बीज के लिए योग अग्नि है—संसार में बार-बार जन्म मरण में आने की परम्परा को योग नष्ट करता है। वह बुढ़ापे का भी बुढ़ापा है। योगी कभी वृद्ध नहीं होते—वृद्धत्व जनित अनुत्साह मान्द्य निराशा योगी में व्याप्त नहीं होती। यह दुःखों के लिए राजयक्ष्मा है। रोगोपशमन—क्षय रोग जैसे शरीर को नष्ट कर

देता है उसी प्रकार योग दुःखों का विध्वंस कर डालता है। योग मृत्यु का भी मृत्यु है। अर्थात् योगी कभी मरता नहीं। क्योंकि योग आत्मा को मोक्ष से योजित करता है। मुक्त हो जाने पर आत्मा को सदा के लिए जन्म मरण से छुटकारा हो जाता है।

योगरूपी कवच से जब चित्त ढका होता है तो काम के तीक्ष्ण अस्त्र जो तप को भी छिन्न भिन्न कर डालते हैं कुण्ठित हो जाते हैं—योगरूपी कवच से टकराकर वे शक्तिशून्य तथा निष्प्रभाव हो जाते हैं।

योगसिद्ध महापुरुषों ने कहा है कि यथाविधि सुने गए—आत्मसात किए हुए योग रूप दो अक्षर सुनने वाले के पापों का क्षय—विध्वंस कर डालते हैं।

अशुद्ध—खादमिश्रित स्वर्ण अग्नि के योग से—आग में तपाने से जैसे शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार अविद्या—अज्ञान द्वारा मलिन—दूषित या कलुषित आत्मा योगरूपी अग्नि से शुद्ध हो जाती है।[1]

भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन तथा जैनदर्शन में जैनयोग मेरा सर्वाधिक प्रिय विषय है। जैनयोग के सम्बन्ध में मैंने उन सभी ग्रन्थों का पारायण किया है जो मुझे उपलब्ध हो सके। मैं इस सम्बन्ध में आचार्य हरिभद्र से अत्यधिक प्रभावित हूँ। उन्होंने जो भी लिखा है वह मौलिक है गहन अध्ययन चिन्तन पर आधृत है।

पिछले कुछ वर्षों से मेरे मन में यह भाव था कि आचार्य हरिभद्र के इन चारों योग ग्रन्थों पर मैं कार्य करूँ। हिन्दी जगत् को अधुनातन शैली में सुसम्पादित तथा अनूदित रूप में ये ग्रन्थ प्राप्त नहीं हैं। अच्छा हो इस कमी की पूर्ति हो सके। इसके लिए मुझे उत्तम मार्ग दर्शन तथा संयोजन चाहिए था। किसके समक्ष यह प्रस्ताव रखूँ यह सूझ नहीं पड़ रहा था। क्योंकि आज अध्यात्म तथा योग के नाम पर जो कार्य चल रहे हैं वे यथार्थमूलक कम तथा प्रशस्ति एवं प्रचारमूलक अधिक हैं। उन तथाकथित योग प्रवर्तकों को आचार्यों को अपना-अपना नाम चाहिए विज्ञप्ति चाहिए प्रचार चाहिए जो उनके लिए प्राथमिक है। खैर जो भी स्थिति है कौन क्या करे

---

[1] योगः कल्पतरुः श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणिः परः।
योगः प्रधानं धर्माणां योगः सिद्धेः स्वयंग्रहः॥
तथा च जन्मबीजाग्निर्जरसोऽपि जरा परा।
दुःखानां राजयक्ष्माऽयं मृत्योर्मृत्युरुदाहृतः॥
कुण्ठीभवन्ति तीक्ष्णानि मन्मथास्त्राणि सर्वथा।
योगवर्मावृते चित्ते तपश्छिद्रकराण्यपि॥
अक्षरद्वयमप्येतत् श्रूयमाणं विधानतः।
गीतं पापक्षयायोच्चैर्योगसिद्धैर्महात्मभिः॥
मलिनस्य यथा हेम्नो वह्नेः शुद्धिर्नियोगतः।
योगाग्नेश्चेतसस्तद्वदविद्यामलिनात्मनः॥ —योगबिन्दु ३७-४१

मैंने मन ही मन निश्चय किया कि उनकी सेवा में अपनी भावना उपस्थित करूँ । तदनुसार वहाँ पहुँचा और यह अनुरोध किया कि यदि उनका मार्गदर्शन तथा संयोजन प्राप्त होता रहे तो प्रकाण्ड विद्वान महान् योगी आचार्य हरिभद्र के योग सम्बन्धी योग ग्रन्थ हिन्दी जगत् की सेवा में प्रस्तुत किए जा सकें । उत्तर में महासतीजी के जो प्रेरक उद्गार मुझे प्राप्त हुए मैं हर्ष विभोर हो गया । उनकी स्वीकृति प्राप्त कर मैंने अपने को धन्य माना । एक परमोत्तम संयमशील पवित्रात्मा की सत्प्रेरणा का सम्बल लेकर मैं अपने स्थान—सरदारशहर लौट आया तथा अपने को सबल भावेन इस कार्य में लगा लिया । इस बीच कार्य उत्तरोत्तर गति पकड़ता गया । उस सन्दर्भ में मुझे दर्शन प्राप्त करने हेतु मुझे महासतीजी महाराज की सेवा में उपस्थित होने के अवसर मिलते रहे । ज्यों ज्यों मैं उनकी आध्यात्मिक सन्निधि में आता गया मुझे उनके व्यक्तित्व की वे असाधारण विशेषताएँ अधिगत होने लगीं जिन्हें साधारण चर्मचक्षुओं से देखा नहीं जा सकता ।

आचार्य हरिभद्र ने योगदृष्टि समुच्चय में गोत्रयोगी कुलयोगी प्रवृत्तचक्र योगी तथा निष्पन्नयोगी के रूप में योग साधकों के जो चार भेद किये हैं परमश्रद्धेया महासतीजी की गणना मैं कुलयोगियों में करता हूँ । आचार्य हरिभद्र के अनुसार कुलयोगी वे होते हैं जिन्हें जन्म से ही योग के संस्कार प्राप्त होते हैं जो समय पाकर स्वयं प्रबुद्ध हो जाते हैं अर्थात् योग-साधना में सहज रस की अनुभूति करने लगते हैं । जो योगी अपने पिछले जन्म में अपनी योग-साधना सम्पूर्ण नहीं कर पाते बीच में ही आयुष्य पूरा कर जाते हैं आगे वे उन संस्कारों के साथ जन्म लेते हैं । अतएव उनमें स्वयं योग चेतना जागरित हो जाती है । कुलयोगी शब्द यहाँ कुल परम्परा या वंश परम्परा के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है । क्योंकि योगियों का वैसा कोई कुल या वंश नहीं होता पर महासतीजी के साथ इस शब्द से नहीं निकलने वाला यह तथ्य भी घटित हो जाता है ऐसा एक विचित्र संयोग उनके साथ है । महासतीजी के पूज्य पितृचरण भी एक संस्कारनिष्ठ योगी थे । घर में रहते हुए भी वे आसक्ति और वासना से ऊपर उठकर साधनारत रहते थे । यों आनुवंशिक या पैतृक दृष्टि से भी महासतीजी को योग प्राप्त रहा । इस प्रकार कुलयोगी का प्रायः अन्यत्र अप्रस्तुत अर्थ भी पूजनीया महासतीजी के जीवन में सर्वथा घटित होता है । ऐसे व्यक्तित्व के सम्पर्क तथा सान्निध्य से सत्त्वोन्मुख अन्तःप्रेरणा जागरित हो यह स्वाभाविक ही है । न यह अतिरंजन है और न प्रशस्ति ही जब भी मैं महासतीजी के दर्शन करता हूँ कुछ ऐसा अध्यात्म-संपृक्त पवित्र वात्सल्य प्राप्त करता हूँ जिससे मुझे अपने जीवन की रिक्तता में आपूर्ति का अनुभव होता है । मैं इसे अपना पुण्योदय ही मानता हूँ कि मुझे इस साहित्यिक कार्य के निमित्त से समादरणीया महासतीजी का इतना नैकट्य प्राप्त हो सका ।

महासतीजी के जीवन के सम्बन्ध में गहराई से परिशीलन कर जैसा मैंने पाया निश्चय ही वह पवित्र उत्क्रान्तिमय जीवन रहा है । एक सम्पन्न सम्भ्रान्त

आचार्य हरिभद्र मेरे अध्ययन के प्रमुख विषय रहे हैं विशेष रूप से उनकी योग विषयक रचनाएं। आज से २५ वर्ष पूर्व जब मैं प्राकृत शोध संस्थान वैशाली (बिहार) में प्राकृत एवं जैनोलॉजी विषय में स्नातकोत्तर अध्ययन कर रहा था उसी समय मुझे आचार्य हरिभद्र सूरि के योग विषयक ग्रन्थों का आद्योपान्त गम्भीर अध्ययन करने का सुयोग प्राप्त हुआ। उससे भी वर्षों पूर्व लगभग बाल्यपन में मेरे हृदय में यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई थी कि मुक्ति मोक्ष परमात्म पद की प्राप्ति अथवा स्वयं परमात्मा बनना अथवा ब्रह्मज्ञानना अथवा भगवान् की प्राप्ति अथवा निर्वाण अवस्था की प्राप्ति जन्म मरण के अनादि संसार चक्र में जीव की मुक्ति की ये जितनी दशाएं हैं उन्हें प्राप्त करने के क्या विश्व भर के सभी जीवों के लिए भक्ति ज्ञान कर्म या संयम का कोई एक ही मार्ग सुनिश्चित है उसके सिवाय कोई गति नहीं है और क्या यह मार्ग बताने वाला केवल एक ही धर्म सत्य है शेष सब झूठ हैं? अथवा ईश्वर को या ईश्वरत्व को पाने के एकाधिक उपाय मार्ग या धर्म हो सकते हैं और सभी जीवों को अपनी अपनी क्षमता एवं देश काल की परिस्थितियों के अनुसार अपना-अपना मार्ग चुनने का पूर्ण स्वतन्त्रता व अधिकार है? इत्यादि रूप से मेरी गहन उत्सुकता और उत्कण्ठा थी।

आचार्य हरिभद्र की योग विषयक रचनाओं के अध्ययन ने मेरी उपर्युक्त जिज्ञासा का इस प्रकार शान्त किया कि सत्य या ईश्वर ऐसा कोई लक्ष्य हिमालय नहीं जिसकी चोटी पर पहुंचने का कोई एक और केवल एक मात्र मार्ग हो वह भी किसी एक ही दिशा में। अपितु वह तो ऐसा सूर्य है जिसकी किरणें एक केन्द्र से उत्पन्न होकर असीम असंख्य अनन्त कोणों व मार्गों से अखिल विश्वमण्डल में व्याप्त होती है और विपरीत क्रम में उतने ही अनन्त असंख्य असीम कोणों व मार्गों से जाकर उसी सत्य रूपी सूर्य में विलीन हो जाती हैं। अतः धर्म भी न केवल अनेक अपितु प्रत्येक जीव का अपना एक स्वतन्त्र धर्म हो सकता है और औपचारिक धर्म तीर्थंकरों अवतारों पैगम्बरों ऋषियों व सन्तों द्वारा प्रणीत धर्म वे शृंखलाएं नहीं हैं जिनसे बांधकर जीव-सृष्टि की श्रेष्ठ कृतियां जिनमें श्रेष्ठतम है मनुष्य (उसे) किसी अन्धकूप में फेंक दिया जाए अपितु वे मार्गदर्शक स्तम्भ हैं प्रकाश की वे किरणें हैं वे हस्तावलम्ब हैं जिन्हें पकड़कर जिनका सहारा लेकर मनुष्य अपने उस उच्चतम महत्तम गन्तव्य को पा सकता है जहां वह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है और जहां सदा स्वयंभू सार्वभौम सत्ता है। संसार के सभी धर्म इस लक्ष्य की सिद्धि में अथवा जीवन के परम-सत्य की शोध में केवल उपाय मात्र हैं साधन मात्र हैं साध्य नहीं और इतनी ही धर्मों की सत्यता है इतनी ही सार्थकता।

आचार्य हरिभद्र के योग विषयक ग्रन्थों से न केवल मानव धर्मों की ऐसी सारभूत एकता की बुद्धि उत्पन्न होती है अपितु यह दृष्टि भी प्राप्त होती है कि मोक्ष से जोड़ने वाला सभी धर्म-व्यापार सारे धार्मिक आचार व्यवहार योग है।

यह मरा विशष सम्भाग्य था मन्त्रदाता गुरु श्री परमपूज्य स्वामीजी श्री हजारीमलजी म० सा० जैसे पावन पुण्य सत प्राप्त हुए। मार्गदर्शिका के रूप म परम श्रद्धेया गुरुणीजी महासती श्री सरदारकुवरजी म०सा० की सन्निधि मर लिए सन्ध्या वरदान रहा। न सब विभूतियों की प्ररणा और छत्र छाया म अपनी सयम यात्रा पर आग बढन रहन म मुझ उन्हा आनन्द और आत्मतोष अनुभव होता रहा। मर विद्याध्ययन तथा जीवन निर्माण म य सब प्र उत्प्ररक निर्देशक और सहायक रह। जन श्रमण जीवन क नात हम लोगा के लिए यह सम्भव नहीं था पाता कि लम्ब काल तक किसी एक स्थान म स्थिर रह हम अध्ययन कर सके क्योंकि वर्षावास के चार महीनों क अतिरिक्त और समय हम लोग बिना किसी विशष कारण क एक मास स अधिक नहीं ठहर सकत। फिर भी जब जसा समय मिला मैं म जार प्र। शील रहा। आदरणीय विद्वद्वर प० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल जस विद्वानों का मर ज्ञान निर्माण म बडा योगदान रहा। व्याकरण साहित्य काव्य कोष दर्शन आदि अनेक विषयों म मन यथामति यथाशक्ति अग्रसर होन का प्रयास किया।

जसा मन पहल सकत किया है योग सम्बन्धी विशषत जनयोग सम्बन्धी ग्रन्थों क पठन म मुझ विशष आत्मतोष मिलता था। जितना सभव हो सका उस दिशा म भी मन अपना अध्ययन चालू रखा। तभी मर मन म आया कि योग कवल साधु सन्यासियों या गृहत्यागियों का विषय नहीं है मानव मात्र स इसका सम्बन्ध है। इसलिए बहुत अच्छा हो कि लोगों म योग सम्बन्धी साहित्य क अध्ययन की प्रवृत्ति पनप बढ़े। मरा आचार्य हमचन्द्र क योगशास्त्र की ओर ध्यान गया। मैंने सोचा हिन्दी अनुवाद क साथ यह ग्रन्थ प्रकाश म आय तो जिज्ञासुओं तथा अभ्यासी जनों को बडा लाभ हो। मुनि श्री समदर्शीजी एव प० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल क सहयोग स इसका सम्पादन व अनुवाद काय सम्पन्न हुआ और सन् १९६३ म इसका प्रकाशन हुआ। पाठकों न इसका अच्छा आदर किया। फलत आज यह ग्रन्थ अप्राप्य है।

मन ही मन मैं भावना रखती हूं उस दिशा म (योग की ओर) लोग गतिशील हों—अध्ययन अभ्यास व साधना की दृष्टि स। मैं नागौर म प्रवास कर रही थी तब जन विद्या तथा प्राच्य भाषाओं क विद्वान् डॉ० छगनलालजी शास्त्री न मर समक्ष जन जगत् क योगनिष्ठ महान् विद्वान् तथा साहित्य स्रष्टा आचार्य हरिभद्र सूरि क योगदृष्टि समुच्चय योगबिन्दु योगशतक तथा योगविंशिका नामक ग्रन्थों पर काम करन का प्रस्ताव रखा। मुझ अत्यधिक प्रसन्नता हुई। जसा कि मैंन अपन पिछल तीन चार वर्षों क परिचय म अनुभव किया डॉ० शास्त्रीजी एक एम सज्जनशील विनयशील एव चरित्रनिष्ठ मनस्वी हैं जिनक प्रगाढ़ पाण्डित्य और सस्कारवती प्रतिभा का उपयोग किया जाए तो विद्या क क्षत्र म बहुत बड काय हो सकत हैं। मुझ और अधिक प्रसन्नता इस बात की हुई कि डॉ० शास्त्रीजी जस विद्वान् स्वत प्ररित होकर इस पुण्य काय म जुट रह हैं। यह बहुत बड़ा शुभ चिह्न है। मैं

श्रद्धेय तपस्वी श्री मांगीलालजी महाराज

जीवन रेखा

परम श्रद्धेय मुनि श्री मांगीलालजी म[illegible] का जन्म [illegible] १९८ भाद्र[illegible] शुक्ला [illegible] को राजस्थान के [illegible] में हुआ था। [illegible] श्री हजारीमलजी गोठी आपके पूज्य पिता [illegible] श्रीमती [illegible] आपकी माता थी। आप [illegible] १ [illegible] [illegible] गये। आप [illegible] [illegible] आपकी [illegible] पुत्र [illegible] [illegible] [illegible] आप [illegible] [illegible] प्रसिद्ध [illegible]। [illegible] बाद भी आपका नाम मुनि श्री [illegible] [illegible] ही रहा।

बाल्य काल

बाल्य-काल जीवन का सबसे मधुर समय होता है। यह जीवन का स्वर्णिम काल होता है। इस समय मनुष्य चिन्ताओं की समस्त [illegible] से मुक्त होता है और विषय विकारों से भी काफी दूर होता है। परन्तु इस सुनहरे समय में आपको अपने पूज्य पिताश्री का वियोग सहना पड़ा। यह सौभाग्य की बात है कि माता के अगाध स्नेह एवं प्यार में आपका जीवन विकसित होता रहा। यौवन वय की अवस्था तक आपको माताओं का सान्निध्य एवं स्नेह प्यार-दुलार मिलता रहा।

आपका ननिहाल तमालगराज [illegible] के निकट बाव्या गाँव में था और वहाँ के प्रसिद्ध व्यापारी श्री हजारीमलजी की सुपुत्री अनुपमकुमारी के साथ आपका विवाह हुआ और जीवन का नया अध्याय शुरू हो गया। जवानी जीवन के उत्थान पतन का समय है। इस समय शक्ति का विकास होता है। यदि इस समय मानव को पथ प्रदर्शन एवं सहयोग अच्छा मिल जाए और संगी-साथी योग्य मिल जायें तो वह अपने जीवन का विकास की ओर ले जा सकता है और यदि उसे बुरे साथियों का संपर्क मिल जाए तो वह अपना पतन भी कर सकता है। वस्तुतः यौवन—जीवन की एक अनुपम शक्ति है ताकत है। इसका सदुपयोग किया जाए तो मनुष्य का जीवन अपने लिए धर्म समाज प्रान्त एव राष्ट्र के लिए निष्प्रद बन सकता है और इसका दुरुपयोग करने पर वह सबके लिए विनाश का कारण भी बन सकता है। यह जीवन का एक सुनहरा पृष्ठ है जिसमें मानव अपने आपको अच्छा या बुरा जैसा चाहे वैसा बना सकता है।

---

१ मेरे (लेखिका के) पूज्य पिताजी

आपका जीवन प्रारम्भ से ही संस्कारित था। बाल्य-काल से मिले हुए सुसंस्कारों का विकास होता रहा। आप प्रायः साधु संन्यासियों के सम्पर्क में आते रहते थे। इसका ही यह मधुर परिणाम है कि आगे चलकर आप एक महान् साधक बने और अपने जीवन को सही दिशा में विकसित किया। आपके जीवन में अनेक गुण विद्यमान थे। परन्तु सरलता, स्नेहशीलता, दयालुता एवं न्यायप्रियता आपके जीवन के कण कण में समा चुकी थी। आपके जीवन की यह विशेषता थी कि आप कभी किसी के दुःख को देख नहीं सकते थे। आप सदा-सर्वदा दूसरे के दुःख को दूर करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे।

सेवा-निष्ठ जीवन

वि० सं० १९७८ में प्लेग की भयंकर बीमारी फैल गई। जन मानस आतंक की उत्ताल तरंगों से आन्दोलित एवं विचलित हो उठा। देखते ही देखते सबके स्वजन परिजन काल के गाल में समाने लगे और लोग अपने परिवार के सदस्यों का मोह त्यागकर अपने प्राण बचाने का प्रयत्न करने लगे। गाँव खाली होने लगा और घरों में लाशों के ढेर लगने लगे। उन्हें श्मशान भूमि तक ले जाकर दाह-संस्कार करने वाले मिलने कठिन हो रहे थे। चारों तरफ त्राहि त्राहि मच गई। मेरे पिताजी के परिवार के सदस्य भी महामारी की चपेट में आ गए थे और ८ दिन में परिवार के २३ सदस्य मौत के लिए इस लोक से विदा हो चुके थे। घर में सन्नाटा छाया हुआ था। चारों तरफ कुहराम मच रहा था। ऐसे विकट एवं दुःखद समय में भी आपके धैर्य का बाँध नहीं टूटा। आप दिन रात जन-सेवा में लगे रहे। लोगों के लिए दवा की व्यवस्था करना और जिस परिवार में मृत व्यक्ति को कोई कंधा देने वाला नहीं रहता, उस लाश को उठाकर उसे श्मशान में ले जाकर दाह संस्कार कर देना। इस तरह आपने हृदय से बीमारों की सेवा की और साहस के साथ महामारी का सामना किया।

प्लेग के कारण बहुत से लोग मर गये और बहुत से लोग अपने जीवन को बचाने के लिए गाँव छोड़कर जंगलों में चले गये और वहाँ झोंपड़ियाँ बनाकर रहने लगे। परन्तु परिवार में सदस्यों की कमी हो जाने तथा बीमारी के कारण शक्ति क्षीण हो जाने से उनमें खेती करने का सामर्थ्य कम रह गया और अर्थाभाव भी उनके सामने मुँह फाड़े खड़ा था। अन्न की समस्या विकट हो रही थी। लोग वृक्षों की छालें पीसकर उनकी रोटियाँ बनाकर खाते या झाड़ियों के बेर खाकर ही गुजारा करते थे। अन्त में विवश होकर लोग अपने राजा के पास पहुँचे और उनसे सहायता माँगी। उस समय मेरे पिताजी राज-दरबार में कामदार थे। उन्होंने भी जनता का साथ दिया और राजा से इस संकट को दूर करने का प्रयत्न करने की प्रार्थना की। किन्तु जनता की प्रार्थना राजा के कर्ण-कुहरों से टकराकर अनन्त आकाश में विलीन हो गई। दुर्भाग्य से वह राजा के हृदय में नहीं पहुँच पाई। इस कारण दुःख को देखकर

भी राजा को उग्र दृश्य नहीं पसीजा। उसने स्पष्ट शब्दों में सहायता देने से इन्कार कर दिया। जन मन भय से काँप उठा। लोगों की आँखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगी।

इस समय आप शान्त नहीं रह सके। आवेश में उठ खड़े हुए और राजा से दो हाथ करने को तैयार हो गए। इस समय जनता का उन्हें सहयोग प्राप्त था। परिणाम यह हुआ कि राजा को सिंहासन से हटा दिया गया और उसके पुत्र को राजगद्दी पर बिठा दिया। परन्तु इतने मात्र से सन्तोष नहीं हुआ। वे स्वयं भी कुछ करना चाहते थे। अतः वर्षों से घर पहुँचते ही उन्होंने अपनी जमीन जायदाद आदि बेचकर जनता के अन्न-संकट को दूर करने का प्रयत्न किया। उनकी सेवा निष्ठा एवं उनके सप्रयत्नों के फलस्वरूप जनता की स्थिति में सुधार हुआ। लोग अपना कार्य करने एवं जीवन निर्वाह करने में समर्थ हो गए और महामारी भी समाप्त हो गई। चारों ओर शान्ति की सरिता प्रवहमान होने लगी। गाँव में फिर से चहल-पहल शुरू हो गई। परन्तु राजा के दुर्व्यवहार से आपके मन में राज दरबार के प्रति घृणा हो गयी थी। अतः आपने इस राज्य में काम नहीं करने की प्रतिज्ञा ग्रहण कर ली।

जीवन का नया मोड़

आपके ज्येष्ठ भ्राता उन दिनों इन्दौर में रहते थे। सरकारी कार्यकर्ता होने के कारण सारा परिवार सनातन—वैदिक धर्म में विश्वास रखता था। जैन धर्म से उनका कोई परिचय नहीं था। परन्तु उन दिनों इन्दौर में जैन सन्तों का चातुर्मास था और एक मुनिजी ने चार मास का व्रत ग्रहण कर लिया। वे सिर्फ गर्म पानी ही लेते थे। आपके भ्राताजी उनकी सेवा में पहुँचे और जैन मुनियों के त्याग निष्ठ जीवन से प्रभावित हुए। उन्होंने एक दिन मुनिजी को आहार के लिए निमन्त्रण दिया। क्योंकि वे जैन मुनियों के आचार विचार से परिचित थे नहीं। उन्हें यह पता नहीं था कि जैन मुनि किसी का निमन्त्रण स्वीकार नहीं करते और न अपने लिए तैयार किया गया विशेष भोजन ही स्वीकार करते हैं। अतः मुनिजी ने यही कहा कि यथा समय जैसा स्पर्श क्षेत्र काल भाव होगा, देखा जायगा। परन्तु भाग्य की बात है कि सन्त घूमते घूमते उसी गली में आ पहुँचे और उनके घर में प्रविष्ट हो गये। जब आपके बड़े भाई ने मुनिजी को अपने घर में प्रविष्ट होते देखा तो उनका रोम रोम हर्ष से विकसित हो उठा, उनका मन प्रसन्नता से नाच उठा। वे अपने आसन से उठे और सन्तों के सामने जा पहुँचे, उन्हें भक्तिपूर्वक वन्दन किया। मुनिजी ने घर में प्रवेश किया और उनके चरण भोजनशाला—रसोईघर की ओर बढ़ने लगे। वहाँ पहुँच कर मुनिजी ने निर्दोष आहार ग्रहण किया और वहाँ से चल पड़े। परन्तु उनके कदमों से पावन हो उसी घर में केसर ही केसर बिखर गई। इस दृश्य को देखकर उनके मन में जैन धर्म एवं सन्तों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो गई और सारा परिवार जैन बन गया।

उनके पिता मेरे पिताजी किशनगढ़ रहते थे। जब वे अपने बड़े भाई से मिलने अजमेर गए और वहाँ जाकर यह सुना कि उन्होंने जैन धर्म स्वीकार कर लिया है उन्हें आवेश आ गया और वे अपने बड़े भाई को बहुत खरी-खोटी सुनाने लगे। परन्तु बड़े भाई शान्त स्वभाव के थे। उन्होंने उन्हें शान्त करने का प्रयत्न किया। उन्हें जैन धर्म एवं संतों की विशेषता का परिचय दिया। परन्तु इससे उन्हें संतोष नहीं हुआ। वे स्वयं चमत्कार देखना चाहते थे। अतः संतों के सम्पर्क में आते रहे और नवकार मंत्र की साधना करते रहे। उनके जीवन में यह एक विशेषता थी कि वे श्रद्धा में पक्के थे। उन्हें कोई भी व्यक्ति अपने पथ से ध्येय से विचलित नहीं कर सकता था। वे जब साधना में संलग्न होते तब और सब कुछ भूल जाते थे। यहाँ तक कि उन्हें अपने शरीर की भी चिन्ता नहीं रहती थी। एक दिन उन्होंने अपने रूई के गोदाम में आग लगा दी और स्वयं वहीं अपने ध्यान में मग्न हो गए। चारों ओर हल्ला मच गया परन्तु वे विचलित नहीं हुए। जब लोग वहाँ पहुँचे तो देखा कि आग उनके शरीर को छू ही नहीं पाई। उनके निकट में पाँच-पाँच गज तक थे। रूई पूरी जल गई थी। इस घटना ने उनके जीवन को बदल दिया। अब वे जैन धर्म पर पूरा विश्वास रखने लगे, श्रद्धा में दृढ़ता आ गई।

आप धर्मनिष्ठ एवं साहसी व्यक्ति थे। घोर संकट के समय भी घबराते नहीं थे। एक बार आप किसी कार्यवश ऊँट पर जा रहे थे। जंगल में चलते चलते ऊँट विक्षिप्त हो गया और आपके प्राण संकट में पड़ गये। परन्तु इस समय भी आप घबराये नहीं। आपने साहस के साथ एक वृक्ष की टहनी को पकड़ा और उस पर चढ़ गए। ऊँट भी उस वृक्ष के चारों ओर चक्कर काटता रहा परन्तु उनका कुछ नहीं बिगाड़ सका। उन्हें निरन्तर ६ दिन तक वृक्ष पर ही रहना पड़ा क्योंकि भयानक जंगल होने के कारण उस रास्ते से लोगों का आवागमन कम ही था। फिर भी आपने नमस्कार मंत्र का स्मरण किया और साहसपूर्वक वृक्ष से नीचे उतरे और ऊँट पर काबू पाया। इस तरह आपकी धर्म पर अटूट श्रद्धा—निष्ठा थी।

परिस्थितियों का परिवर्तन

समय परिवर्तनशील है। वह सदा सर्वदा एक सा नहीं रहता। धूप छाया की तरह परिवर्तित होता रहता है। कभी राजा को रंक बना देता है तो कभी दर-दर की खाक छानने वाले भिखारी को छत्रपति बना देता है। मनुष्य सोचता कुछ है और परिस्थितियाँ कुछ और ही बना देती हैं। वह समझ ही नहीं पाता कि जीवन करवटें बदलने लगता है और नई-नई समस्याएँ उसके सम्मुख आ खड़ी होती हैं। पूज्य पिताश्री का समय आनन्द से बीत रहा था परन्तु एकाएक परिस्थितियाँ बदलने लगीं और उन्हें अपने जीवन में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

प्लेग के समय घर की सारी पूँजी जन-सेवा में खर्च हो चुकी थी। घर का जेवर एवं जमीन जायदाद भी बेच दी गई थी। इससे उनकी आर्थिक स्थिति

सात वर्ष तक बिना नमक मिर्च की उड़द की दाल और जौ की रूखी रोटी खाई । गृहस्थ जीवन में भी आप त्याग विराग के साथ रहने लगे । आपने रसनेन्द्रिय पर विजय प्राप्त कर ली थी ।

अपूर्व साहस

जब मैं पाँच वर्ष की थी तब मेरे पिताजी एक दिन मुझे ननिहाल ले जा रहे थे । रास्ते में एक दिन के लिए मौसीजी के घर पर ठहरे । वहाँ से मेरा ननिहाल तीन मील था । अतः रात को बहुत जल्दी उठकर चल पड़े । वे मुझे गोद में उठाए हुए तेजी से कदम बढ़ा रहे थे । पहाड़ी रास्ता था और पगडण्डी के रास्ते से चल रहे थे । दुर्भाग्यवश रास्ता भूल गये और घने जंगल में भटक गये । फिर भी वे साहस के साथ बढ़ रहे थे कि एक झाड़ी में से दो शेर निकल आये । शेरों को देखते ही उन्होंने मुझे घास के गट्ठर की तरह जमीन पर एक ओर फेंक दिया और म्यान में से तलवार निकालकर शेरों पर टूट पड़े । मेरे बदन में काफी चोट लगी फिर भी मैं भय के कारण सहम गई और शेरों के साथ चलने वाले उनके संघर्ष को देखती रही । कई घंटों तक उनमें और शेरों में युद्ध चलता रहा । आखिर उन्होंने साहस के साथ शेरों पर विजय प्राप्त की । एक तो शेर मर गया और एक ने अत्यधिक घायल होकर झाड़ियों में जा छिपा । पिताजी का शरीर भी काफी क्षत विक्षत हो गया था । परन्तु उन्होंने उसकी कुछ भी परवाह नहीं की । मुझे गोद में उठाया और रास्ता खोजते हुए आगे बढ़ने चले । भाग्यवश सही रास्ता मिल गया और सूर्योदय से एक डेढ़ घंटे पूर्व ही वे मुझे लेकर मेरे ननिहाल आ पहुँचे । अभी तक घर का द्वार नहीं खुला था । अतः उसे खुलवाया परन्तु घावों में से खून बह रहा था और वे पर्याप्त थक चुके थे । इसलिए वे न तो ठीक तरह से खड़े ही रह सके और न किसी से बात ही कर पाए वे तो एकदम चारपाई पर गिर पड़े । उनकी यह दशा—हालत देखकर मेरे ननिहाल वाले काफी घबरा गये । फिर मैंने सारी घटना कह सुनाई । उन्होंने उनको नसीराबाद के अस्पताल में दाखिल करवाया । वहाँ कई महीने उपचार होता रहा और डाक्टरों के सत्प्रयत्न से वे पूर्णतः स्वस्थ हो गये ।

स्नेह और प्रतिज्ञा

पिताजी का स्वास्थ्य ठीक होने पर वे पुनः मुझे घर ले गये । क्योंकि मेरी बड़ी बहिन का विवाह था । विवाह खूब धूमधाम से हो रहा था । परन्तु पिताजी सात वर्ष से बिना नमक मिर्च की उड़द की दाल और जौ की रूखी रोटी खा रहे थे । अतः उन्होंने सबके साथ भोजन नहीं किया । तब सभी बरातियों ने तब तक भोजन करने से इनकार कर दिया जब तक वे साथ बैठकर भोजन नहीं करेंगे । कुछ देर तक मान मनुहार होती रही । अन्त में सम्बन्धियों के हार्दिक स्नेह के सामने उन्हें झुकना पड़ा । उन्होंने सात वर्ष से चली आ रही परम्परा को तोड़कर उनके साथ भोजन किया । वस्तुतः हार्दिक स्नेह एवं सच्चा प्यार भी मनुष्य को विवश कर देता है ।

जैन योग : एक परिशीलन

[जैन योग की परिचयात्मक पृष्ठभूमि]

□ उपाध्याय श्री अमर मुनि

योग का महत्त्व

विश्व की प्रत्येक आत्मा अनन्त एवं अपरिमित शक्तियों का प्रकाश-पुञ्ज है। उसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख-शान्ति और अनन्त शक्ति का अस्तित्व अन्तर्निहित है। समस्त शक्तियों का महास्रोत उसके अन्दर ही निहित है। वह अपने आप में शक्तिवान है, ज्योतिर्मय है, शक्ति सम्पन्न है और महान है। वह स्वयं ही अपना निर्माता है और स्वयं ही विनाशक (Destroyer) है। इतनी विराट शक्ति का अधिपति होने पर भी वह अनेक बार रास्ता भटक जाता है, पथभ्रष्ट हो जाता है, संसार सागर में गोते खाता रहता है, अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाता है, अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर पाता है। ऐसा क्यों होता है? इसका क्या कारण है? वह अपनी शक्तियों को क्यों नहीं प्रकट कर पाता है?

यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जब हम इसकी गहराई में उतरते हैं और जीवन के हर पहलू का सूक्ष्मता से अध्ययन करते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन में योग—स्थिरता का अभाव ही मनुष्य की असफलता का मूल कारण है। मानव के मन में, विचारों में एवं जीवन में एकाग्रता, स्थिरता एवं तन्मयता न होने के कारण मनुष्य को अपने आप पर, अपनी शक्तियों पर पूरा भरोसा नहीं होता, पूरा विश्वास नहीं होता। उसके मन में, उसकी बुद्धि में सन्देह-संशय बना रहता है। वह निश्चित विश्वास और दृढ़ निष्ठा के साथ अपने पथ पर बढ़ नहीं पाता। यही कारण है कि वह इधर-उधर भटकता है, ठोकरें खाता फिरता है और पतन के महागर्त में भी जा गिरता है। उसकी शक्तियों का प्रकाश भी धूमिल पड़ जाता है। अतः अनन्त शक्तियों को अनावृत करने, आत्म-ज्योति को ज्योतित करने तथा अपने में स्थित साध्य तक पहुंचने के लिए मन, वचन और कर्म में एकरूपता, एकाग्रता, तन्मयता एवं स्थिरता लाना आवश्यक है। आत्म-चिन्तन में एकाग्रता एवं स्थिरता लाने का नाम ही योग है।[1]

1 The word Yoga literally means union. —Indian Philosophy (Dr C D Sharma)

परम्परा में इसका प्रयोग—जोड़ने अर्थ में प्रयोग हुआ है। गणित शास्त्र में भी योग का अर्थ—जोड़ना मिलाना किया है। मनोविज्ञान (Psychology) में योग शब्द के स्थान में अवधान एवं ध्यान (Attention) शब्द का प्रयोग हुआ है। मन की वृत्तियों को एकाग्र करने के लिए मनोवैज्ञानिकों (Psychologists) ने अवधान या ध्यान के महत्त्व को स्वीकार किया है। और ध्यान के लिए यह आवश्यक है कि मन को किसी वस्तु के साथ जोड़ा जाए। क्योंकि मन को एकाग्र बनाने की क्रिया का नाम ध्यान है और वह तभी हो सकता है जब कि मन किसी एक पदार्थ के साथ सम्बद्ध हो जाए। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को अपने चिन्तन के अतिरिक्त पता ही नहीं चलेगा कि उसके चारों ओर क्या हो रहा है। इस प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक भाषा में सक्रिय ध्यान (Active Attention) कहते हैं।

जैन और वैदिक परम्परा के अर्थ में भिन्नता होते हुए एकरूपता भी निहित है। जब हम चित्त-वृत्ति निरोध और मोक्ष प्रापक धर्म व्यापार—इन दोनों के अर्थ का स्थूल दृष्टि से अध्ययन करते हैं तो दोनों अर्थों में भिन्नता परिलक्षित होती है दोनों में पर्याप्त दूरी दिखाई देती है। परन्तु जब हम दोनों परम्पराओं का सूक्ष्म दृष्टि से अनुचिन्तन-परिशीलन करते हैं तो उसमें भिन्नता की जगह एकरूपता का भी दर्शन होता है।

चित्त वृत्ति का निरोध करना एक क्रिया है साधना है। इसका अर्थ है—चित्त की वृत्तियों को रोकना। परन्तु यह एकान्त निषेधात्मक अर्थ को ही अभिव्यक्त नहीं करता है वरन् विधेयात्मक अर्थ को भी अभिव्यक्त करता है। रोकने के साथ करने का भी सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। इस चित्त-वृत्तिनिरोध का वास्तविक अर्थ यह है कि साधक अपनी संसाराभिमुख चित्त-वृत्तियों को रोककर अपनी साधना को साध्य सिद्धि या मोक्ष के अनुकूल बनाए। अपनी मनोवृत्तियों को सांसारिक भोग एवं विषय वासनाओं से हटाकर मोक्षाभिमुखी बनाए। मोक्ष प्रापक धर्म-व्यापार से भी यही अर्थ ध्वनित होता है। जैन विचारक मोक्ष के साथ सम्बन्ध कराने वाली क्रिया को साधना को ही योग कहते हैं।

जैन आगम में संवर शब्द का प्रयोग हुआ है। यह जैनों का एक विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है। जैन विचारकों के अतिरिक्त अन्य किसी भी भारतीय विचारक ने इस शब्द का प्रयोग नहीं किया है। संवर शब्द का आध्यात्मिक साधना के अर्थ में प्रयोग हुआ है। आस्रव का निरोध करने का नाम संवर है।[1]

महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में चित्त-वृत्ति के निरोध को योग कहा है। इस तरह संवर और योग—दोनों के अर्थ में निरोध शब्द का प्रयोग हुआ है। एक में

---

1 (क) निरुद्धासवे (संवरो) —उत्तराध्ययन ८ ११

(ख) आस्रव निरोधः संवरः —तत्त्वार्थ सूत्र ९

निरोध के विशेषण के रूप में आस्रव का उल्लेख किया गया है और दूसरे में चित्त वृत्ति का।

जैनागम में मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय और योग को आस्रव कहा है।[1] दूसरे भी मिथ्यात्व कषाय एवं योग को प्रमुख माना है। अविरति और प्रमाद—कषाय के ही विस्तार मात्र हैं। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि जैनागम में उल्लिखित आस्रव में जो योग शब्द आता है वह योग-परम्परा सम्मत चित्त वृत्ति के स्थान में है। जैनागम में मन वचन और कायिक प्रवृत्ति को योग कहा है। इसमें मानसिक प्रवृत्ति ताना का बन्ध है। क्योंकि कर्म का बन्ध वचन और काया की प्रवृत्ति से नहीं बल्कि परिणामों से होता है।[2] इस तरह योग-सूत्र में जिसे चित्त वृत्ति कहा है जैन परम्परा में उसे आस्रव रूप योग कहा है।

जैन परम्परा में योग आस्रव दो प्रकार का माना है—१ सकषाय योग-आस्रव और २ अकषाय योग-आस्रव। योग सूत्र में चित्त वृत्ति के भी क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो भेद किये हैं। जैनागम में कषाय के चार भेद किये हैं—क्रोध मान माया लोभ और योग-सूत्र में क्लिष्ट चित्त-वृत्ति को भी चार प्रकार का माना है—अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश। जैन परम्परा सर्वप्रथम सकषाय योग के निरोध का और उसके पश्चात् अकषाय योग के निरोध को स्वीकार करती है। यही बात योग सूत्र में क्लिष्ट और अक्लिष्ट चित्त-वृत्ति के विषय में कही गई है। महर्षि पतंजलि भी पहले क्लिष्ट चित्त-वृत्ति का निरोध करके फिर क्रमश अक्लिष्ट चित्त-वृत्ति के निरोध की बात कहते हैं।

इस तरह जब हम जैन परम्परा और योगसूत्र में उल्लिखित योग के अर्थ पर विचार करते हैं तो शब्दों में भिन्नता नहीं एकरूपता परिलक्षित होती है। अतः समग्र भारतीय चिन्तन की दृष्टि से योग का यह अर्थ समझना चाहिए—समस्त आत्मशक्तियों का पूर्ण विकास कराने वाली क्रिया या आत्म गुणों को अनावृत्त करने वाली आत्माभिमुखी साधना। एक पाश्चात्य विचारक ने भी शिक्षा की यही व्याख्या की है।[3]

योग की जन्मभूमि

योग एक आध्यात्मिक साधना है। आत्म विकास की एक प्रक्रिया है। और साधना का द्वार सबके लिए खुला है। दुनियाँ का प्रत्येक प्राणी अपना आत्म विकास

---

१ पंच आसवदारा पण्णत्ता त जहा—मिच्छत्त अविरई पमाया कसाया जोगा।
—समवायांग समवाय ५।

२ परिणाम बन्ध।

३ Education is the harmonious development of all our faculties
—*Lord Avebrine*

अन्तिम ध्येय भी मोक्ष माना है।[1] इस तरह समग्र भारतीय साहित्य का चरम आदर्श मोक्ष रहा है और उसकी गति चतुर्थ पुरुषार्थ की ओर हो रही है।

इस तरह सम्पूर्ण वाङ्मय का एक ही आदर्श रहा है। और भारतीय जनता की अभिरुचि भी मोक्ष या ब्रह्म प्राप्ति की ओर रही है। इससे यह स्पष्ट होता है कि योग एवं अध्यात्म-साधना की परम्परा भारत में युग-युगान्तर से अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा है। यही कारण है कि विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने यह लिखा है कि भारतीय सभ्यता अरण्य—जंगल में अवतरित हुई है।[2] और यह है भी सत्य। क्योंकि भारत का कोई भी पहाड़ वन एवं गुफा योग एवं आध्यात्मिक साधना से शून्य नहीं मिलेगा। इसमें यह कहना उपयुक्त ही है कि योग का आविष्कृत एवं विकसित करने का श्रेय भारत को ही है। पाश्चात्य विज्ञान भी इस बात को स्वीकार करते हैं।[3]

ज्ञान और योग

दुनियाँ का कोई भी क्रिया क्यों न हो उसे करने के लिए सबसे पहले ज्ञान आवश्यक है। बिना ज्ञान के कोई भी क्रिया सफल नहीं हो सकता। आत्म-साधना के लिए भी क्रिया के पूर्व ज्ञान का होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य माना है। जैनागम में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि पहले ज्ञान फिर क्रिया। ज्ञानाभाव में कोई भी क्रिया कोई भी साधना—भले ही वह कितना ही उत्कृष्ट श्रेष्ठ एवं कठिन क्यों न हो साध्य को सिद्ध करने में सहायक नहीं हो सकता। अतः साधना के लिए ज्ञान आवश्यक है।

परन्तु ज्ञान का महत्त्व भी साधना एवं आचरण में है। ज्ञान का महत्त्व तभी समझा जाता है जबकि उसके अनुरूप आचरण किया जाए। ज्ञान-पूर्वक किया गया आचरण ही योग है साधना है। अतः ज्ञान योग-साधना का कारण है। परन्तु योग साधना के पूर्व ज्ञान इतना स्पष्ट नहीं रहता जितना साधना के बाद होता है। तदनुरूप क्रिया एवं साधना के होने से चिन्तन में विकास होता है साधना के नए अनुभव होते हैं। इससे ज्ञान में निखार आता है। अतः योग-साधना के पश्चात् होने वाला अनुभवात्मक ज्ञान स्पष्ट एवं परिपक्व होता है कि उसमें धुंधलापन नहीं रहता या कम रहता है। अतः गीता की भाषा में सच्चा ज्ञानी वही है जो योगी है।[4]

---

१ स्थविर धर्म मोक्ष च। —काम-सूत्र (बम्बई संस्करण) अ० २ प ११

२ Thus in India it was in the forests that our civilisation had its birth —Sadhna by Tagore p 4

३ This concentration of thought (एकाग्रता) or onepointedness as the Hindus called it is something to us almost unknown —Sacred Books of the East by Max Muller Vol I p 3

४ पढमं णाणं तओ दया। —दशवैकालिक ४ १०

५ यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ —गीता ५ ५

जिसमें योग या एकाग्रता का अभाव है वे ज्ञानी नहीं, ज्ञान-बन्धु—ज्ञान के भाई या सम्बन्धी हैं।[1]

जैन आगम में भी यह बताया है कि सम्यग् ज्ञान—चारित्र के द्वारा साधक चारित्र को दृढ़ कर पूर्णता—निर्वाण को प्राप्त करता है। बिना चारित्र के ज्ञान में पूर्णता नहीं आ पाती। अतः साधना के लिए ज्ञान आवश्यक है और ज्ञान के विकास के लिए साधना। ज्ञान एवं योग या क्रिया की संयुक्त साधना से ही साध्य सिद्ध होता है अन्यथा नहीं है।

व्यावहारिक और पारमार्थिक योग

योग एक साधना है। इसके दो रूप हैं—१ बाह्य और २ आभ्यन्तर। एकाग्रता—यह उसका बाह्य रूप है और अहंभाव, ममत्व आदि मनोविकारों का न होना उसका आभ्यन्तर रूप है। एकाग्रता योग का शरीर है तो अहंभाव एवं ममत्व का परित्याग उसकी आत्मा है। क्योंकि अहंभाव आदि मनोविकारों का परित्याग किए बिना मन, वचन एवं काय योग में स्थिरता आ नहीं सकती और मन, वचन तथा कर्म में एकरूपता एवं समता का विकास नहीं हो सकता। योगों की स्थिरता एकरूपता हुए बिना तथा समभाव के आए बिना योग-साधना हो नहीं सकती। अतः योग-साधना के लिए मनोविकारों का परित्याग आवश्यक है।

जिस साधना में एकाग्रता तो है परन्तु अहंत्व ममत्व का त्याग नहीं है, वह केवल व्यावहारिक या द्रव्य-साधना है। पारमार्थिक या भावयोग-साधना वह है जिसमें एकाग्रता और स्थिरता के साथ मनोविकारों का परित्याग कर दिया गया है। अहंत्व ममत्व भाव का त्याग। ऐसा योगी भले ही प्रवृत्ति में प्रवृत्त हो—भले ही वह स्थूल दृष्टि वाले व्यक्तियों को बाह्य प्रवृत्ति परिलक्षित होता हो, वह पारमार्थिक योगी कहलाता है। इसके विपरीत स्थूल दृष्टि से देखने वाले व्यक्ति जिसे आध्यात्मिक साधना समझते हैं उसमें प्रवृत्त व्यक्ति अहंत्व ममत्व में रमण करता है तो उसकी वह योग-साधना केवल द्रव्य-साधना है बाह्य योग है। उससे उसका साध्य सिद्ध नहीं हो सकता। अतः विचारकों ने अहंत्व-ममत्व भाव से रहित समत्व भाव की साधना को ही सच्चा योग कहा है।

---

१ व्याचष्टे यः पठति च शास्त्रं भोगाय शिल्पिवत्।
यतते न त्वनुष्ठाने ज्ञानबन्धुः स उच्यते ॥ —योगवासिष्ठ सर्ग २१

२ (क) ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः।
(ख) सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः। —तत्त्वार्थ सूत्र १ १

३ योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ —गीता २ ४

योग-परम्पराएं

विश्व की किसी भी वस्तु को पूर्ण करने के लिए दो बातों की आवश्यकता रहती है—एक पदार्थ विषयक ज्ञान और दूसरा क्रिया। ज्ञान और क्रिया के सुमेल के बिना दुनियाँ का कोई भी कार्य पूरा नहीं किया जा सकता—भले ही वह लौकिक कार्य हो या पारलौकिक, सांसारिक हो या आध्यात्मिक। यदि किसी व्यक्ति को एक मकान बनाना है तो मकान तैयार करने के पूर्व उसके स्वरूप, उसमें लगने वाली सामग्री और उसमें काम आने वाली सामग्री और उसमें काम आने वाले साधनों एवं उस साधन-सामग्री के उपयोग करने के ढंग का ज्ञान करना आवश्यक है। तत्सम्बन्धी पूरी जानकारी करने के बाद उसके अनुरूप क्रिया की जाती है, परिश्रम किया जाता है। ठीक इसी प्रकार आध्यात्मिक साधना के द्वारा आत्मा को कर्मबन्धन से पूर्णतया मुक्त करने के अभिलाषी साधक के लिए भी यह आवश्यक है कि वह सर्वप्रथम आत्मा के साथ कर्मों के बन्धन के कारण, बन्ध को रोकने तथा आबद्ध कर्मों को तोड़ने के साधना का सम्यक् बोध प्राप्त करे। उसके पश्चात् वह तदनुसार क्रिया कर उस ज्ञान को आचरण का रूप दे। इस तरह ज्ञान और क्रिया के सुमेल से साध्य की सिद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं।

योग साधना भी एक क्रिया है। इस साधना में प्रवृत्त होने से पहले, होने के पूर्व साधक आत्मा, योग साधना आदि आध्यात्मिक एवं तात्त्विक विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है। वह योग के हर पहलू पर गहराई से सोचता विचारता है। परन्तु चिन्तन का एक रूप न होने के कारण—योग एवं उसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले मोक्ष में एकरूपता होने पर भी उनके द्वारा प्ररूपित योग एवं मुक्ति के स्वरूप में भिन्नता परिलक्षित होती है। क्योंकि वस्तु अनेक पर्यायों से युक्त है और उसका चिन्तन करने वाले साधक उसके किसी पर्याय विशेष को लेकर उस पर चिन्तन करते हैं, अतः उनके चिन्तन में अन्तर रहना स्वाभाविक है। इसी विचार विभिन्नता के कारण योग-साधना भी विभिन्न धाराओं में प्रवहमान दिखाई देती है।

साधना का मूल केन्द्र आत्मा है। अतः योग के चिन्तन का मुख्य विषय भी आत्मा है। और आत्म-स्वरूप के सम्बन्ध में भी सभी भारतीय विचारक एवं दार्शनिक एकमत नहीं हैं। आत्मा को जड़ से भिन्न एक स्वतन्त्र द्रव्य मानने वाले विचारक भी दो भागों में विभक्त हैं। कुछ विचारक एकात्मवादी हैं और कुछ अनेकात्मवादी हैं। इसके अतिरिक्त व्यापकत्व, अव्यापकत्व, परिणामित्व, अपरिणामित्व, क्षणिकत्व, नित्यत्व आदि के अनेक विचार भेद रहे हुए हैं। परन्तु यदि इन अवान्तर भेदों को एक तरफ भी रख दें तो मुख्य दो भेद रह जाते हैं—१ एकात्मवादी और २ अनेकात्मवादी। इस आधार पर योग-साधना भी दो परम्पराओं में विभक्त हो जाती है। कुछ उपनिषद्[1], योगवासिष्ठ, हठयोग प्रदीपिका आदि योग विषयक ग्रन्थ

---

१ ब्रह्मविद्या, क्षुरिका, चूलिका, नादबिन्दु, ब्रह्मबिन्दु, अमृतबिन्दु, ध्यानबिन्दु, तेजोबिन्दु, शिखा, योगतत्त्व, हंस आदि।

जुलता सूत्र है।[1] परन्तु अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योगः—इस सूत्र की मौलिकता एवं शब्द रचना से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार्य शंकर द्वारा उद्धृत अंतिम दो उल्लेख भी इसी योगशास्त्र के होने चाहिए। इस अर्थ में यह योग शास्त्र आज अनुपलब्ध है। अतः वैदिक परम्परा के योग विषयक साहित्य में योग-सूत्र सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

प्रस्तुत योग-सूत्र चार पादों में विभक्त है और इसमें कुल १९५ सूत्र हैं। प्रथम पाद का नाम समाधि, द्वितीय का साधन, तृतीय का विभूति और चतुर्थ का नाम कैवल्य पाद है। प्रथम पाद में प्रमुख रूप से योग के स्वरूप, उसके साधन और चित्त को स्थिर बनाने के उपायों का वर्णन है। द्वितीय पाद में क्रिया-योग, योग के आठ अंग, उनका फल और हेय-हेतु, हान और हानोपाय—इस चतुर्व्यूह का वर्णन है। तृतीय पाद में योग की विभूतियों का उल्लेख किया गया है और चतुर्थ पाद में परिणामवाद का स्थापन, विज्ञानवाद का निराकरण और कैवल्य-अवस्था के स्वरूप का वर्णन है।

प्रस्तुत योग सूत्र सांख्य दर्शन के आधार पर रचा गया है। यही कारण है कि महर्षि पतंजलि ने प्रत्येक पाद के अंत में यह अंकित किया है—योग शास्त्र सांख्य प्रवचन। सांख्य प्रवचन इस विशेषण से यह स्पष्टतः ध्वनित होता है कि सांख्य दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों के सिद्धांतों के आधार पर निर्मित योग शास्त्र भी उस समय विद्यमान थे।

यह हम पहले बता चुके हैं कि सभी भारतीय विचारकों, दार्शनिकों एवं साहित्यकारों के चिंतन का आदर्श मोक्ष रहा है। परन्तु मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में सभी विचारक एकमत नहीं हैं। कुछ विचारक मुक्ति में शाश्वत सुख नहीं मानते। उनका विश्वास है कि दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। इसके अतिरिक्त वहाँ शाश्वत सुख जैसी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। कुछ विचारक मुक्ति में शाश्वत सुख का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि जहाँ शाश्वत सुख है वहाँ दुःख का अस्तित्व रह ही नहीं सकता, उसकी निवृत्ति तो स्वतः ही हो जाती है।

वैदिक नैयायिक[2] सांख्य[3] योग[4] और बौद्ध दर्शन[5] प्रथम पक्ष को

---

१ देखें पातञ्जल योग सूत्र १, ६

२ तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। —न्याय दर्शन १, १, २२

३ ईश्वरकृष्ण रचित सांख्यकारिका १

४ योग-सूत्र में मुक्ति में ज्ञानत्व माना है और दुःख के आत्यन्तिक नाश को ही हान कहा है। —पातञ्जल योग सूत्र २, २५

५ सर्वाभ्यन्तर बुद्ध के मतानुसार निरोध नामक आर्यसत्य का अर्थ दुःख का नाश है। —बुद्धवचनामृत संग्रह पृ० १५

स्वीकार करते हैं। वेदान्त और जैन दर्शन निःश्रेयस को अंतिम साध्य मानते हैं। उनका विश्वास है कि शाश्वत सुख को प्राप्त करना ही साधक का अंतिम ध्येय है और यह साध्य मोक्ष है।

योग में विषय का वर्गीकरण उसके अन्तिम साध्य के अनुरूप ही है। उसमें अनेक सिद्धान्तों का वर्णन है परन्तु संक्षेप में इन्हें चार विभागों में विभक्त किया जा सकता है—१ हेय २ हेय-हेतु ३ हान और ४ हानोपाय। दुःख हेय है अविद्या हेय का कारण है दुःख का आत्यन्तिक नाश हान है और विवेकख्याति हानोपाय है।[1] सांख्य सूत्र में भी यही वर्गीकरण मिलता है। तथागत बुद्ध ने इसी चतुर्व्यूह को आर्य सत्य का नाम दिया है। और योग शास्त्र में वर्णित अष्टांग योग की तरह चतुर्थ आर्य-सत्य के साधन रूप में आर्य अष्टांग मार्ग का उपदेश दिया है।[2]

इसके अतिरिक्त योग शास्त्र में वर्णित चतुर्व्यूह का दूसरी प्रकार से भी वर्गीकरण किया है—१ ज्ञाता २ ईश्वर २ जगत और ४ संसार एवं मुक्ति का स्वरूप तथा उसके कारण।

१ ज्ञाता

दुःख से सर्वथा निवृत्त होने वाले द्रष्टा—आत्मा या चेतन को ज्ञाता कहते हैं। योग शास्त्र में सांख्य वैशेषिक नैयायिक बौद्ध जैन एवं पूर्णप्रज्ञ (मध्व) दर्शन की तरह अनेक आत्माएँ—चेतन स्वीकार की हैं। परन्तु आत्मा के स्वरूप की मान्यता में भेद है। योग शास्त्र आत्मा को न तो जैन दर्शन की तरह देह प्रमाण मानता है और न मध्व सम्प्रदाय की तरह अणु प्रमाण मानता है। वह सांख्य वैशेषिक नैयायिक एवं शाङ्कर वेदान्त की तरह आत्मा को सर्वव्यापक मानता है। इसी तरह वह चेतन को जैन दर्शन की तरह परिणामि नित्य तथा बौद्ध-दर्शन की तरह एकान्त क्षणिक न मानकर सांख्य एवं अन्य वैदिक दर्शनों की तरह कूटस्थनित्य मानता है।

ईश्वर

योग शास्त्र सांख्य-दर्शन की तरह ईश्वर के अस्तित्व से इनकार नहीं करता।[3] वह ईश्वर को मानता है और उसे जगत् का कर्त्ता भी मानता है।

४ जगत

योग शास्त्र जगत् के स्वरूप को सांख्य-दर्शन की तरह प्रकृति का परिणाम और अनादि अनन्त प्रवाह रूप मानता है। वह जैन वैशेषिक एवं नैयायिक दर्शन की तरह उसे परमाणु का परिणाम नहीं मानता न शंकराचार्य की तरह ब्रह्म का विवर्त—परिणाम मानता है और न बौद्ध दर्शन की तरह शून्य या विज्ञानात्मक स्वीकार करता है।

---

१ योग सूत्र —महर्षि पातञ्जलि १ १७ ४ २६

२ षड्दर्शनसार संग्रह पृष्ठ १५०

३ सांख्य-सूत्र १ ६ ।

इस तरह पातञ्जल योग-सूत्र का गहरा अध्ययन करने एवं उस पर अनुचिन्तन करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके वर्णन में जैन दर्शन के साथ बहुत कुछ समानता है और इस विचार-समानता के कारण आचार्य हरिभद्र जैसे उदार एवं विराट्हृदय जैनाचार्यों ने अपने योग विषयक ग्रन्थों में महर्षि पतञ्जलि की विशाल दृष्टि के लिए आदर प्रकट करके गुण ग्राहकता का परिचय दिया है।[1] यह नितान्त सत्य है कि जब मनुष्य शान्ति पाने की प्राथमिक भूमिका से आगे बढ़ जाता है तब वह शब्द की पूँछ न खींचकर चिन्ता ज्ञान तथा भाव ज्ञान[2] से उत्तरोत्तर अधिकाधिक एकता वाले प्रदेश में स्थित होकर अभेद एवं निरपेक्ष—पक्षपात रहित आनन्द का अनुभव करता है।

बौद्ध योग परम्परा

बौद्ध साहित्य में योग के स्थान में ध्यान और समाधि शब्द का प्रयोग मिलता है। बोधित्व प्राप्त होने के पूर्व तथागत बुद्ध ने श्वासोच्छ्वास का निरोध करने का प्रयत्न किया। वे अपने शिष्य अग्गिवेस्सन को कहते हैं कि मैं श्वासोच्छ्वास का निरोध करना चाहता था इसलिए मैं मुख नाक एवं कर्ण—कान में से निकलते हुए साँस को रोकने का उसे निरोध करने का प्रयत्न करता रहा।[3] परन्तु इससे उन्हें समाधि प्राप्त नहीं हुई। इसलिए बोधित्व प्राप्त होने के बाद तथागत बुद्ध ने हठयोग की साधना का निषेध किया और आर्य अष्टांगिक मार्ग का उपदेश दिया है।[4]

इस अष्टांगिक मार्ग में समाधि का विशेष महत्त्व दिया गया है। वस्तुतः समाधि के रक्षण के लिए ही आर्य अष्टांग में सात अंगों का वर्णन किया है और इन सात अंगों में एकता बनाए रखने के लिए समाधि आवश्यक है।

इस सम्यक्समाधि को प्राप्त करने के लिए चार प्रकार के ध्यान का वर्णन किया गया है—१ वितर्क विचार प्रीति-सुख एकाग्रता-सहित २ प्रीति-सुख एकाग्रता सहित ३ सुख-एकाग्रता-सहित और ४ एकाग्रता-सहित।[5] प्रस्तुत में वितर्क का

---

१ योग बिन्दु ६६ योगदृष्टि समुच्चय १

२ शब्द चिन्ता तथा भावना ज्ञान के स्वरूप का विस्तार से समझने की जिज्ञासा रखने वाले पाठक उपाध्याय यशोविजय जी कृत अध्यात्मोपनिषद् श्लोक ६५ ७४ देखें।

३ अंगुत्तरनिकाय ६ ।

४ १ सम्यग्दृष्टि २ सम्यक्संकल्प ३ सम्यग्वाणी ४ सम्यक्कर्म ५ सम्यग् आजीविका ६ सम्यग्व्यायाम ७ सम्यक्स्मृति और ८ सम्यक्समाधि।
—संयुत्तनिकाय ५ १ विभंग २१७ २८

५ मज्झिमनिकाय दीघनिकाय सामञ्ञफलसुत्त बुद्धलीलासार संग्रह पृष्ठ १२८ समाधि मार्ग (धर्मानन्द कौसाम्बी) पृष्ठ १५।

१ विसद्धिमग ।

जब साधक चित्त को एकाग्र कर लेता है तो समझना चाहिए उसने समाधि मार्ग में प्रवेश कर लिया है। अब उसे चाहिए कि वह चित्त की एकाग्रता के अभ्यास को इतना दृढ़ कर ले कि भय, शोक एवं हर्ष आदि के समय भी चित्त विभ्रान्त न हो सके।

प्रथम चरण में मन को एकाग्र करने के लिए श्वास गणना आदि के साथ जोड़ने का उपदेश दिया गया है। द्वितीय चरण में चित्त को मन को एकाग्र करने के लिए प्रीति प्रेम को मुख्य स्थान दिया गया है। प्रस्तुत में प्रीति का अर्थ है—निष्काम प्रेम विश्व-बन्धुत्व की भावना। इस साधना में योगी का मन प्रीति के साथ एकाग्र हो जाता है, निष्काम बन जाता है और योगी अपना कष्ट, राग एवं दुःख दर्द आदि को भूल जाता है। तब उसे अनुपम सुख एवं आनन्द की अनुभूति होती है।

इस प्रयत्न में योगी के चित्त की गति मन्द हो जाती है, उसमें स्थिरता आ जाती है। तब वह चित्त को विमुक्त करके श्वासोच्छ्वास की क्रिया करता है। अर्थात् वह श्वासोच्छ्वास में आसक्त नहीं होता है। इस प्रक्रिया से उसे अनन्त सुख मिलता है फिर भी उसमें आबद्ध नहीं होता है।

इस अभ्यास के पश्चात् योगी निर्वाण मार्ग में प्रविष्ट होता है। इसके अभ्यास के लिए वह अनित्यता का चिन्तन करता है। अनित्यता से वैराग्य का अनुभव होता है और इससे समस्त वृत्तियाँ एवं मनोभावनाएँ विलीन हो जाती हैं और योगी निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है।

बौद्ध साहित्य में समाधि एवं निर्वाण प्राप्त करने के लिए ध्यान के साथ अनित्य भावना को भी महत्त्व दिया गया है। तथागत बुद्ध अपने शिष्यों से कहते हैं—हे भिक्षुओ! रूप अनित्य है, वेदना अनित्य है, संज्ञा अनित्य है, संस्कार अनित्य है, विज्ञान अनित्य है। जो अनित्य है वह दुःखरूप है। जो दुःखरूप है वह अनात्मक है। जो अनात्मक है वह मेरा नहीं है, वह मैं नहीं हूँ। इस तरह संसार के अनित्य स्वरूप को देखना चाहिए। क्योंकि यदनिच्चं तं दुक्खं जो अनित्य है वह दुःखरूप है।

जैन विचारकों ने भी अनित्य भावना के चिन्तन को महत्त्व दिया है। भरत चक्रवर्ती ने इस अनित्य भावना के कारण ही चक्रवर्ती-वैभव भोगते हुए केवलज्ञान को प्राप्त किया था। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अनित्य भावना का यही स्वरूप बताया है—

इस संसार के समस्त पदार्थ अनित्य हैं। प्रातःकाल जिसे देखते हैं, वह मध्याह्न में दिखाई नहीं देता और मध्याह्न में जो दृष्टिगोचर होता है, वह रात्रि में नजर नहीं आता।[1]

---

१ देखें—योग शास्त्र (आचार्य हेमचन्द्र) प्रकाश ४, श्लोक ५७-६०।

ध्यान पर तुलनात्मक विचार

बौद्ध साहित्य में योग को ध्यान के लिए यहाँ एवं समाधि शब्द का प्रयोग किया गया है। महर्षि पतञ्जलि ने वितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मित—चार प्रकार के सम्प्रज्ञात योग का उल्लेख किया है। जैन परम्परा में—१ पृथक्त्ववितर्क सविचार २ एकत्ववितर्क अविचार ३ सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति ४ समुच्छिन्नक्रिया निवृत्ति—ये शुक्ल ध्यान के चार भेद माने हैं।

ध्यान के उक्त भेदों में जो शब्द-साम्य परिलक्षित होता है वह महत्त्वपूर्ण है। परन्तु तीनों परम्पराओं में तात्त्विक एवं सैद्धान्तिक भेद होने के कारण ध्यान के भेदों में शब्द-साम्य होने पर भी अर्थ की छाया विभिन्न दिखाई देती है। इसका कारण है—दृष्टि की विभिन्नता। सांख्ययोग परम्परा प्रकृतिवादी है और बौद्ध एवं जैन परम्परा परमाणुवादी है। जैन परम्परा परमाणु को द्रव्य रूप में नित्य मानकर उसमें रूप पर्यायों की अपेक्षा से उसे अनित्य मानता है। परन्तु बौद्ध परम्परा किसी भी नित्य द्रव्य को नहीं मानती। वह सब कुछ प्रवाहरूप और अनित्य मानती है। यह तीनों परम्पराओं की तात्त्विक मान्यता की भिन्नता है। परन्तु यदि हम स्थूल दृष्टि से न देखकर सूक्ष्म दृष्टि से तीनों परम्पराओं के ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं तो उसमें भेद के साथ कुछ साम्य भी दिखाई देता है।

योग ग्रन्थ में वितर्क और विचार शब्द सम्प्रज्ञात के साथ आए हैं और अन्य ग्रन्थकार ने इनके साथ समापत्ति का सम्बन्ध भी जोड़ दिया है। जो विचार और वितर्क सम्प्रज्ञात से सम्बद्ध हैं उनका अनुक्रम से अर्थ है—स्थूल विषय में एकाग्र बने हुए चित्त को मन को होने वाला स्थूल साक्षात्कार और सूक्ष्म विषय में एकाग्र बने हुए चित्त को होने वाला सूक्ष्म साक्षात्कार। जब वितर्क और विचार के साथ समापत्ति का वर्णन आता है तब स्थूल साक्षात्कार को सवितर्क और निर्वितर्क उभय रूप माना है और सूक्ष्म साक्षात्कार को सविचार और निर्विचार—दोनों प्रकार का माना है। इससे निष्कर्ष यह है कि योग ग्रन्थ में वितर्क और विचार शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। सम्प्रज्ञात के साथ प्रयुक्त वितर्क पद का अर्थ—स्थूल विषय का साक्षात्कार किया गया है और समापत्ति के साथ प्रयुक्त वितर्क शब्द का अर्थ किया गया है—शब्द, अर्थ और ज्ञान का अभेदाध्यास या विकल्प। इसी तरह सम्प्रज्ञात के साथ आए हुए विचार का अर्थ है—सूक्ष्म विषयक साक्षात्कार और समापत्ति के साथ प्रयुक्त विचार शब्द का अर्थ है—देश, काल और धर्म से अवच्छिन्न सूक्ष्म पदार्थ का साक्षात्कार।

बौद्ध परम्परा में वितर्क और विचार दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है। उसमें वितर्क का अर्थ है—ऊह अर्थात् चित्त किसी भी आलम्बन को आधार बनाकर सर्वप्रथम उसमें प्रवेश करे उसे वितर्क कहते हैं और जब चित्त उसी आलम्बन में गहराई से उतरकर उसमें एकरस हो जाता है तब उसे विचार कहते हैं। इस

तरह आलम्बन में स्थिर होने वाले चित्त की प्रथम अवस्था को वितर्क और उसके बाद की अवस्था को विचार कहते हैं।

जैन परम्परा में वितर्क का अर्थ है— श्रुत या शास्त्र ज्ञान और विचार का अर्थ है— एक विषय से दूसरे विषय में संक्रमण करना। योग-सूत्र में प्रयुक्त सवितर्क समापत्ति का अर्थ— विकल्प भी किया गया है। विकल्प का तात्पर्य है— शब्द अर्थ और ज्ञान में भेद होते हुए भी उनमें अभेद-बुद्धि होनी है। निर्वितर्क समापत्ति में ऐसी अभेद बुद्धि नहीं होती है वहाँ केवल अर्थ का शुद्ध बोध होता है। प्राय ये ही भाव जैन परम्परा में प्रयुक्त पृथक्त्व वितर्क और एकत्व वितर्क में परिलक्षित होते हैं। प्रथम ध्यान में विचार संक्रमण का अवकाश है परन्तु द्वितीय ध्यान में उसे स्थान नहीं दिया है जबकि वितर्क को स्थान दिया गया है।

बौद्ध परम्परा द्वारा वर्णित ध्यानों में भी यह क्रम परिलक्षित होता है। इसके प्रथम ध्यान में वितर्क और विचार— दोनों रहते हैं परन्तु द्वितीय ध्यान में दोनों का अस्तित्व नहीं रहता है। जबकि जैन परम्परा के द्वितीय ध्यान में वितर्क का सद्भाव तो रहता है परन्तु विचार का अस्तित्व नहीं रहता और योग-सूत्र में सवितर्क सम्प्रज्ञात में वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता— इन चारों अंगों के अस्तित्व को स्वीकार किया है।

बौद्ध परम्परा प्रथम ध्यान में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता— इन पाँचों के अस्तित्व को स्वीकार करती है। योग परम्परा द्वारा मान्य आनन्द या आह्लाद और बौद्ध-परम्परा द्वारा माने गये प्रीति और सुख में अत्यधिक अर्थ साम्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि योग-परम्परा में प्रयुक्त अस्मिता बौद्ध परम्परा द्वारा प्रयुक्त एकाग्रता के उदात्त रूप में प्रयुक्त हुई है।

योग-परम्परा में प्रयुक्त अध्यात्मप्रसाद ऋतम्भरा प्रज्ञा और सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति में प्राय अर्थ-साम्य दिखाई देता है। जैन-परम्परा का समुच्छिन्न क्रिया-अप्रतिपाति योग-परम्परा का असम्प्रज्ञात योग या संस्कार शेष— निर्बीज योग है, ऐसा प्रतीत होता है।[1]

उक्त परिशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय संस्कृति में प्रवाहमान त्रि-योग परम्पराओं— वैदिक जैन और बौद्ध में विभिन्न रूप में दिखाई देने वाली व्याख्याओं में कोई गहरी अनुभव एकता रही हुई है। ये अलग अलग दिखाई देने वाली कड़ियाँ पूर्णत पृथक् नहीं, प्रत्युत किसी अपेक्षा विशेष से एक-दूसरी कड़ी से आबद्ध— जुड़ी हुई भी हैं।

---

१ देखो तत्त्वार्थ सूत्र (पं० सुखलाल संघवी) ९ ४१।

बौद्ध योग के अन्य अंग

बौद्ध साहित्य में आर्य अष्टांग का वर्णन किया गया है। उसमें शील, समाधि और प्रज्ञा का उल्लेख मिलता है। शील का अर्थ है—कुशल धर्म को धारण करना, कर्त्तव्य में प्रवृत्त होना और अकर्त्तव्य से निवृत्त होना।[1] कुशल चित्त की एकाग्रता या चित्त और चैतसिक धर्म का एक ही आलम्बन में सम्यक्तया स्थापन करने की प्रक्रिया का नाम समाधि है।[2] कुशल चित्त युक्त विपश्य—विवेक ज्ञान को प्रज्ञा कहा है।[3]

बौद्धों द्वारा स्वीकृत शील में पतंजलिसम्मत यम नियम का समावेश हो जाता है। बौद्ध साहित्य में पचशील और जैन परम्परा में पाँच यम और जैन परम्परा में पाँच महाव्रतों का उल्लेख मिलता है। यम और महाव्रतों के नाम एक से हैं—१ अहिंसा, २ सत्य, ३ अस्तेय, ४ ब्रह्मचर्य और ५ अपरिग्रह। पंचशील में प्रथम चार के नाम यही हैं परन्तु अपरिग्रह के स्थान में मद्य से निवृत्त होने का उल्लेख मिलता है।

समाधि में योग-सूत्र द्वारा मान्य प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का समावेश हो जाता है और जैन परम्परा में वर्णित ध्यान आदि आभ्यन्तर तप में प्रत्याहार आदि चार अंगों का तथा बौद्ध दर्शन द्वारा मान्य समाधि का समावेश हो जाता है। योग-सूत्रसम्मत तप का तीसरा नियम अनशनादि बाह्य तप में आ जाता है। स्वाध्याय रूप आभ्यन्तर तप और योग-सूत्र द्वारा वर्णित स्वाध्याय का अर्थ एक-सा है।

बौद्ध परम्परा द्वारा मान्य प्रज्ञा और योग-सूत्र द्वारा वर्णित विवेक-ख्याति में पर्याप्त अर्थ साम्य है। इस तरह बौद्ध साहित्य में वर्णित योग अन्य परम्पराओं से कहीं शब्द से मेल खाता है तो कहीं अर्थ से और कहीं प्रक्रिया से मिलता है।

जैनागमों में योग

जैन धर्म निवृत्ति प्रधान है। इसके चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर ने साढ़े बारह वर्ष तक मौन रहकर घोर तप, ध्यान एवं आत्म चिन्तन के द्वारा योग साधना का ही जीवन बिताया था। उनके शिष्य शिष्या-परिवार में पचास हजार व्यक्ति—चौदह हजार साधु और छत्तीस हजार साध्वियाँ—ऐसे थे जिन्होंने योग साधना में प्रवृत्त होकर साधुत्व को स्वीकार किया था।[4]

---

१ विसुद्धिमग्ग १।१६-२५।

२ वही ३।२।

३ वही १४।२-३।

४ चउद्दसहिं समणसाहस्सीहिं छत्तीसाहिं अज्जियासाहस्सीहिं।

—उववाई सूत्र १०

जन परम्परा के मूल ग्रन्थ आगम हैं[1]। उनमे वर्णित साध्वाचार का अध्ययन करने मे यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि पाँच महाव्रत समिति गुप्ति तप ध्यान स्वाध्याय आदि—जो योग के मुख्य अंग है उनको साधु जीवन का श्रमण साधना का प्राण माना है।[1] वस्तुत आचार साधना श्रमण-साधना का मूल है प्राण है जीवन है। आचार के अभाव मे श्रमण की साधना केवल निष्प्राण कंकाल एव शव रह जाएगा।

जनागमो मे योग शब्द समाधि या साधना के अर्थ मे प्रयुक्त नही हुआ है। वहाँ योग का अर्थ है—मन वचन और काय—शरीर की प्रवृत्ति। योग शुभ और अशुभ—दो तरह का होता है। इसका निरोध करना ही श्रमण साधना का मूल उद्देश्य है मुख्य ध्येय है। अत जैनागमो ने साधु को आत्म चिन्तन के अतिरिक्त अन्य कार्य मे प्रवृत्ति करने की आज्ञा नही दी है। यदि साधु के लिए अनिवार्य रूप से प्रवृत्ति करना आवश्यक है तो आगम निवृत्तिपरक प्रवृत्ति करने की अनुमति देता है। इस प्रवृत्ति को आगमिक भाषा मे समिति गुप्ति कहा है इसे अष्ट प्रवचन माता भी कहते हैं।[2] पाँच समिति—१ ईर्या समिति भाषा समिति एषणा समिति ४ आयाण भण्ड निक्षेपणा समिति और ५ उच्चार-पासवण-खेल जल्ल-मल-परिठावणिया समिति प्रवृत्ति की प्रतीक हैं और त्रिगुप्ति—मन गुप्ति वचन गुप्ति और काय गुप्ति निवृत्तिपरक हैं। समिति अपवाद मार्ग है और गुप्ति उत्सर्ग मार्ग है। साधु को जब भी किसी कार्य मे प्रवृत्ति करना अनिवार्य हो तब वह मन वचन और काय योग को अशुभ से हटाकर विवेक एव सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करे। इस निवृत्ति प्रधान एव त्याग निष्ठ जीवन को ध्यान मे रखकर ही साधु की दैनिक चर्या का विभाग किया गया है। इसमे रात और दिन को चार-चार भागो मे विभक्त करके बताया गया है कि साधु दिन और रात के प्रथम एव अन्तिम प्रहर मे स्वाध्याय करे और द्वितीय प्रहर मे ध्यान एव आत्म चिन्तन मे सलग्न रहे। दिन के तृतीय प्रहर मे वह आहार लेने को जाए और उस लाए हुए निर्दोष आहार को समभावपूर्वक अनासक्त भाव से खाए और रात्रि के तृतीय प्रहर मे निद्रा से निवृत्त होकर चतुर्थ प्रहर मे पुन स्वाध्याय मे सलग्न हो जाए।[3] इस प्रकार रात दिन के आठ प्रहरो मे छह प्रहर केवल स्वाध्याय ध्यान आत्म चिन्तन मनन मे लगाने का आदेश है। सिर्फ दो प्रहर प्रवृत्ति के लिए है वह भी सयमपूर्वक प्रवृत्ति के लिए न कि अपनी इच्छानुसार।

श्रमण-साधना का मूल ध्येय—योगो का पूर्णत निरोध करना है। परन्तु

आचारांग सूत्रकृतांग उत्तराध्ययन दशवैकालिक आदि।

अट्ठ पवयणमायाओ समिए गुत्ती तहेव य।
पचेव य समिईओ तओ गुत्ती उ आहिया॥

—उत्तराध्ययन सूत्र २४ १

उत्तराध्ययन सूत्र २६ ११—१२ १७—१८

३ ध्यान —तत्त्व चिन्तन की भावना का विकास करके मन की चित्त की किसी एक पदार्थ या तत्त्व के चिन्तन पर एकाग्र करना, स्थिर करना ध्यान है। इससे चित्त स्थिर होता है और भव-परिभ्रमण के कारणों का नाश होता है।

४ समता —संसार के प्रत्येक पदार्थ एवं सम्बन्ध पर—भले ही वह इष्ट हो या अनिष्ट तटस्थ वृत्ति रखना समता है। इससे अनेक लब्धियों की प्राप्ति होती है और कर्मों का क्षय होता है।

५ वृत्ति-संक्षय —विजातीय द्रव्य से उद्भूत चित्त-वृत्तियों का जड़मूल से नाश करना वृत्ति-संक्षय है। इस साधना के सफल होने से घातिकर्मों का समूल क्षय हो जाता है, केवल ज्ञान केवल-दर्शन की प्राप्ति होती है और क्रमशः सारे अघाति कर्मों का क्षय होकर निर्वाण पद—मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आत्म भावों का विकास करते एवं उन्हें शुद्ध बनाते हुए साधक प्रारम्भ की तीन भूमिकाओं को पार करके चौथी समता-साधना में प्रविष्ट होता है और वहाँ क्षपक श्रेणी करता है। उसके बाद वह वृत्ति-संक्षय की साधना करता है। आचार्य हरिभद्र ने प्रथम की चार भूमिकाओं की पातञ्जल योग-सूत्र में वर्णित सम्प्रज्ञात समाधि के साथ और अन्तिम पाँचवीं भूमिका की असम्प्रज्ञात समाधि के साथ समानता बताई है। उपाध्याय यशोविजय जी ने भी अपनी योग-सूत्र वृत्ति में इस समानता को स्वीकार किया है।

आचार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ में पाँच अनुष्ठानों का भी वर्णन किया है —१ विष, २ गर, ३ अननुष्ठान, ४ तद्धेतु तथा ५ अमृत अनुष्ठान। इसमें प्रथम के तीन असदनुष्ठान हैं। अन्तिम के दो अनुष्ठान सदनुष्ठान हैं और योग-साधना के अधिकारी व्यक्ति का सदनुष्ठान ही होता है।

७ योगदृष्टि समुच्चय

प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित आध्यात्मिक विकास का क्रम परिभाषा, वर्गीकरण और शैली की अपेक्षा से योग बिन्दु से अलग दिखाई देता है। योग बिन्दु में प्रयुक्त कुछ विचार इसमें शब्दान्तर से अभिव्यक्त किये गये हैं और कुछ विचार अभिनव भी हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में योगबिन्दु में प्रयुक्त अचरमावर्तकाल—अज्ञान काल की अवस्था को ओघ-दृष्टि और चरमावर्तकाल—ज्ञान काल की अवस्था को योग दृष्टि कहा है। ओघ दृष्टि में प्रवर्तमान भवाभिनन्दी का वर्णन योग बिन्दु के वर्णन सा ही है।

इस ग्रन्थ में योग की भूमिकाओं या योग के अधिकारियों को तीन विभागों में विभक्त किया गया है। प्रथम भाग में प्रारम्भिक अवस्था से लेकर विकास की चरम—अन्तिम अवस्था तक की भूमिकाओं के कर्ममल के तारतम्य की अपेक्षा से आठ

योग कहा है। इसके अतिरिक्त स्थान आदि पाँचों भेदों के इच्छा, प्रवृत्ति स्थैर्य और सिद्धि—ये चार चार भेद करके उनका स्वरूप और कार्य का वर्णन किया है।

ऊपर आचार्य हरिभद्र के योग विषयक ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया है। इनका अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्यश्री ने अपने ग्रन्थों में मुख्य रूप से चार बातों का उल्लेख किया है—

१ कौन साधक योग का अधिकारी है और कौन अनधिकारी।
२ योग का अधिकार प्राप्त करने के लिए पूर्व तैयारी—साधना का स्तर
३ योग-साधना की योग्यता के अनुसार साधकों का विभिन्न रूप में वर्गीकरण और उनके स्वरूप एवं अनुष्ठान का वर्णन।
४ योग साधना के उपाय—साधन और भेदों का वर्णन।

आचार्य हेमचन्द्र

आचार्य हरिभद्र के बाद आचार्य हेमचन्द्र का नम्बर आता है। आप हेमचन्द्र विक्रम की बारहवीं शताब्दी के एक प्रख्यात आचार्य हुए हैं। आप इस जैनागम एवं न्याय-दर्शन के तो प्रकाण्ड पण्डित थे ही, परन्तु व्याकरण साहित्य छन्द अलंकार काव्य दर्शन योग आदि सभी विषयों पर आपका अधिकार था और उक्त सभी विषयों पर आपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। आपके विशाल गहन अध्ययन एवं ज्ञान के कारण आपको कलिकालसर्वज्ञ के नाम से सम्बोधित जाता रहा है।

आचार्य हेमचन्द्र ने योग पर योग शास्त्र लिखा है। उसमें पातञ्जल योग सूत्र में निर्दिष्ट अष्टांगयोग के क्रम से गृहस्थ जीवन एवं साधु जीवन की साधना का जैनागम के अनुसार वर्णन किया है। इसमें आसन प्राणायाम सम्बन्धित बातों का भी विस्तृत वर्णन है। आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव में पदस्थ पिण्डस्थ रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों का भी उल्लेख किया है। आचार्यश्री ने अपने स्वानुभव के आधार पर मन के चार भेदों—विक्षिप्त यातायात श्लिष्ट और सुलीन—का वर्णन करके नवीनता लाने का प्रयत्न किया है। निश्चित योग शास्त्र जैन तत्त्व ज्ञान आचार एवं योग-साधना का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

आचार्य शुभचन्द्र

योग विषय पर आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव की रचना की है। इसमें और योग शास्त्र में वर्णन में विषय एक से हैं। ज्ञानार्णव में सर्ग २६ से ४२ प्राणायाम और ध्यान के स्वरूप एवं भेदों का वर्णन किया है। यह वर्णन ...

है। मन के अर्थ का बोध होना अर्थ है। बाह्य विषयों का ध्यान यह योग है। रूपी द्रव्य का आलम्बन लिए बिना शुद्ध आत्मा की ... अनालम्बन योग कहा है।
—योग विंशिका टीका

पञ्चम प्रकाश से एकादश प्रकाश तक के वर्णन में मिलता है। उभय ग्रन्थों में वर्णित विषय ही नहीं बल्कि शब्दों में भी बहुत कुछ समानता है। प्राणायाम आदि से प्राप्त होने वाली लब्धियों एवं परकायप्रवेश आदि के फल का निरूपण करने के बाद दोनों आचार्यों ने प्राणायाम को साध्य सिद्धि के लिए अनावश्यक, निरुपयोगी, अहित कारक एवं अनर्थकारी बताया है। ज्ञानार्णव में २१ से २७ सर्गों में यह बताया है कि आत्मा स्वयं ज्ञान-स्वरूप है। कषाय आदि दोषों ने आत्म शक्तियों को आवृत कर रखा है। अतः राग-द्वेष एवं कषाय आदि दोषों का क्षय करना मोक्ष है। इसलिए इसमें यह बताया है कि कषाय पर विजय प्राप्त करने का साधन इन्द्रिय जय है। इन्द्रियों को जीतने का उपाय—मन की शुद्धि है, मन शुद्धि का साधन है—राग-द्वेष को दूर करना और उसे दूर करने का साधन है—समत्व भाव की साधना। समत्व भाव की साधना ही ध्यान या योग-साधना की मुख्य विशेषता है। यह वर्णन योग शास्त्र में भी शब्दशः एवं अर्थशः एक-सा है। यह सत्य है कि अनित्य आदि बारह भावनाओं और पाँच महाव्रतों का वर्णन उभय ग्रन्थों में एक-से शब्दों में नहीं है, फिर भी वर्णन की शैली में समानता है। उभय ग्रन्थों में यदि कुछ अन्तर है तो वह यह है कि ज्ञानार्णव के तीसरे सर्ग में ध्यान-साधना करने वाले साधक के लिए गृहस्थाश्रम के त्याग का स्पष्ट विधान किया गया है, जब कि आचार्य हेमचन्द्र ने गृहस्थाश्रम की भूमिका पर ही योग शास्त्र की रचना की है।

आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं— बुद्धिशाली एवं त्यागनिष्ठ होने पर भी साधक महादुःखों से भरे हुए तथा अत्यधिक निन्दित गृहस्थाश्रम में रहकर प्रमाद पर विजय नहीं पा सकता और चंचल मन को वश में नहीं कर सकता। अतः चित्त की शान्ति के लिए महापुरुष गृहस्थाश्रम का त्याग ही करते हैं।

अरे! किसी देश और किसी काल विशेष में आकाश-पुष्प और गधे के सिर पर शृंग का अस्तित्व मिल भी सकता है, परन्तु किसी भी काल और किसी भी देश में गृहस्थाश्रम में रहकर ध्यानसिद्धि को प्राप्त करना सम्भव ही नहीं है।[1]

परन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने गृहस्थ-अवस्था में ध्यान सिद्धि का निषेध नहीं किया है। आगमों में भी गृहस्थ जीवन में धर्म ध्यान की साधना को स्वीकार किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में तो यहाँ तक कहा गया है कि किसी साधु की साधना की अपेक्षा गृहस्थ भी साधना में उत्कृष्ट हो सकता है।[2] अन्य श्वेताम्बर आचार्यों ने भी पञ्चम गुणस्थान में धर्म-ध्यान को माना है। आचार्य हेमचन्द्र ने तो योग शास्त्र का निर्माण राजा कुमारपाल के लिए ही किया था।

उपाध्याय यशोविजयजी

इसके पश्चात् उपाध्याय यशोविजयजी के योग विषयक ग्रन्थों पर दृष्टि जाती

---

१ ज्ञानार्णव सर्ग ३ ६ १० १७

२ सन्ति एगेहिं भिक्खुहिं गारत्था संजमुत्तरा। —उत्तराध्ययन ५ २

अनुक्रमणिका

योगदृष्टि समुच्चय

योगबिन्दु

योगशतक

योगविंशिका

योगदृष्टि समुच्चय

मगलाचरण—

[१]

नत्वेच्छायोगतोऽयोग योगिगम्य जिनोत्तमम् ।
वीर वक्ष्ये समासेन योग तदृष्टिभेदत ॥

अयोग—मानसिक वाचिक कायिक योग—प्रवृत्ति स अतीत योगिगम्य—योग-साधको द्वारा प्राप्य—अनुभाव्य जिन-श्रेष्ठ भगवान् महावीर को इच्छायोग म अन्तर्भावपूर्वक नमस्कार कर मैं योग का योग-दृष्टियो क रूप म विश्लेषण करत हुए सक्षप म विवेचन करूँगा।

त्रियोग—(इच्छायोग शास्त्रयोग सामर्थ्ययोग)

[२]

इहैवेच्छादियोगानां स्वरूपमभिधीयते ।
योगिनामुपकाराय व्यक्त योगप्रसगत ॥

यहाँ योग के प्रसग म योग साधको के लाभार्थ इच्छायोग शास्त्रयोग तथा सामर्थ्ययोग के स्वरूप का विशद रूप म वर्णन किया जा रहा है।

[३]

कर्तुमिच्छो श्रुतार्थस्य ज्ञानिनोऽपि प्रमादत ।
विकलो धर्मयोगो य स इच्छायोग उच्यते ॥

जो धर्म—आत्मोपलब्धि की इच्छा लिये है जिसने आगम-अर्थ—शास्त्रीय सिद्धान्तो का श्रवण किया है, ऐसे ज्ञानी पुरुष का प्रमाद के कारण विकल—असम्पूर्ण धर्मयोग इच्छायोग कहा जाता है।

[४]

शास्त्रयोगस्त्विह ज्ञेयो यथाशक्त्यप्रमादिनः ।
श्राद्धस्य तीव्रबोधेन वचसाऽविकलस्तथा ॥

यथाशक्ति प्रमादरहित श्रद्धावान् तीव्र बोधयुक्त पुरुष के आगम वचन—शास्त्र ज्ञान के कारण अविकल—अखण्ड अथवा काल आदि की अविकलता—अखण्डता के कारण अविकल—सम्पूर्ण योग शास्त्रयोग कहा जाता है।

[५]

शास्त्रसंदर्शितोपायस्तदतिक्रान्तगोचरः ।
शक्त्युद्रेकाद्विशेषेण सामर्थ्याख्योऽयमुत्तमः ॥

शास्त्र में जिसका उपाय बताया गया है शक्ति के उद्रेक—जागरण—प्रबलता के कारण जिसका विषय शास्त्र से भी अतिक्रान्त—अतीत—परे है, वैसा उत्तम योग सामर्थ्य योग कहा जाता है।

[६]

सिद्ध्याख्यपदसंप्राप्तिहेतुभेदा न तत्त्वतः ।
शास्त्रादेवावगम्यन्ते सर्वथैवेह योगिभिः ॥

सिद्धि—चरम सफलता रूप पद को प्राप्त करने के हेतुओं के भेद—कारणों को तत्त्वतः विश्लेषण योगीजन केवल शास्त्रों के माध्यम से ही सम्पूर्णतया नहीं जान पाते।

[७-८]

सर्वथा तत्परिच्छेदात् साक्षात्कारित्वयोगतः ।
तत्सर्वज्ञत्वसंसिद्धेस्तदा सिद्धिपदाप्तितः ॥

न चैतदेवं यत्तस्मात् प्रातिभज्ञानसंगतः ।
सामर्थ्ययोगोऽवाच्योऽस्ति सर्वज्ञत्वादिसाधनम् ॥

सर्वथा शास्त्र द्वारा तत्त्व—सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान आदि अधिगत हो जायें तो साक्षात्कारित्व—प्रत्यक्ष—इन्द्रियनिरपेक्ष ज्ञान का उद्भव

योग दृष्टियाँ—

[१२]

एतत् त्रयमनाश्रित्य विशेषेणतदुद्भवाः ।
योगदृष्टय उच्यन्ते अष्टौ सामान्यतस्तु ताः ॥

इन तीनों—इच्छायोग शास्त्रयोग तथा सामर्थ्ययोग का साक्षात् आधार लिए बिना पर उन्हीं में विशेष रूप से निःसृत दृष्टियाँ योगदृष्टियाँ कही जाती हैं। वे सामान्यतः आठ प्रकार की हैं।

[१३]

मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कान्ता प्रभा परा ।
नामानि योगदृष्टीनां लक्षणं च निबोधत ॥

उन आठ योगदृष्टियों के नाम इस प्रकार हैं—१ मित्रा २ तारा ३ बला ४ दीप्रा ५ स्थिरा ६ कान्ता ७ प्रभा तथा ८ परा। उनके लक्षण समझिए।

ओघ दृष्टि—

[१४]

समेघामेघरात्र्यादौ सग्रहाद्यर्भकादिवत् ।
ओघदृष्टिरिह ज्ञेया मिथ्यादृष्टीतराश्रया ॥

बादल भरी रात, बादलों से शून्य रात, बादल सहित दिवस, बादल रहित दिवस, ग्रह-प्रेतादि दर्शक, ग्रह बाधा रहित स्वस्थ दर्शक, बाल दर्शक, वयस्क दर्शक, मिथ्यादिक आदि से उपहत नेत्र दर्शक, अनुपहत नेत्र दर्शक—इन औपाधिक भिन्नताओं के कारण जैसे वस्तु दर्शन में विशेषता की दृष्टि से तरतमता, न्यूनाधिकता होती है उसी तरह ओघ दृष्टि—संसार प्रवाह पतित दृष्टि—सामान्य दृष्टि भिन्न भिन्न प्रकार की है।

(ओघ दृष्टि से ऊपर उठकर साधक योग दृष्टि में प्रवेश करता है।)

योगदृष्टियों का स्वरूप

[१५]

तृणगोमयकाष्ठाग्निकणदीपप्रभोपमा ।
रत्नताराकचन्द्राभा सद्दृष्टेर्दृष्टिरष्टधा ॥

सम्यग्दृष्टा पुरुष की दृष्टि बोध-ज्योति की विशदता के विकास की अपेक्षा से घास कण्डे तथा काठ के अग्नि कण, दीपक की प्रभा रत्न तारे सूर्य और चन्द्र की आभा के सदृश क्रमश मित्रा तारा बला, दीप्रा स्थिरा कान्ता प्रभा और परा रूप म आठ प्रकार की ह।

[१६]

यमादियोगयुक्तानां खेदादिपरिहारत ।
अद्वेषादिगुणस्थानं क्रमेणैषा सतां मता ॥

यम नियम आदि योगांगों के साधक खेद उद्वेग आदि दोषों के परिहारक सत्पुरुषों म क्रमश अद्वेष जिज्ञासा आदि गुणों की आधार स्थानीया ये—मित्रा आदि योग दृष्टियाँ निष्पन्न होती हैं।

[१७]

सच्छ्रद्धासंगतो बोधो दृष्टिरित्यभिधीयते ।
असत्प्रवृत्तिव्याघातात सत्प्रवृत्तिपदावह ॥

सत् श्रद्धा म युक्त बोध दृष्टि कहा जाता है। उसम असत् प्रवृत्ति की रुकावट होती है तथा सत प्रवृत्ति म गति होती है।

[१८]

इयं चावरणापायभेदादष्टविधा स्मृता ।
सामान्येन विशेषास्तु भूयांस सूक्ष्मभेदत ॥

आत्मा के शुद्ध स्वरूप को ढकने वाले आवरण के दूर होने जाने की तरतमता की दृष्टि से सामान्यत स्थूल-रूप म दृष्टि आठ प्रकार की मानी गई है। सूक्ष्मता म जाने पर उसके बहुत—अनेक भेद होते हैं।

[१६]

प्रतिपातयुताश्चाद्याश्चतस्रो नोत्तरास्तथा ।
सापाया अपि चैतास्तत्प्रतिपातेन नेतरा ॥

पहली चार दृष्टियाँ—मित्रा तारा बला तथा दीप्रा प्रतिपात—भ्रंश युक्त हैं अर्थात जो साधक इन्हें प्राप्त कर लेता है उनमें भ्रष्ट भी हो सकता है। पर भ्रष्ट होना ही हो ऐसा नहीं है। भ्रंश या पतन की सम्भावना के कारण ये चार दृष्टियाँ सापाय—अपाय या बाधायुक्त कही जाती हैं।

आगे की चार दृष्टियाँ—स्थिरा कान्ता प्रभा तथा परा प्रतिपात रहित अतएव बाधारहित हैं।

[२०]

प्रयाणभङ्गाभावेन निशि स्वापसमः पुनः ।
विघातो दिव्यभावतश्चरणस्योपजायते ॥

अप्रतिपाती दृष्टि प्राप्त होने पर योगी का अपने मोक्षरूप लक्ष्य की ओर अनवरत प्रयाण चालू हो जाता है। हाँ जिस प्रकार यात्रा पर आगे बढ़ते पथिक को रात में कुछ एक स्थानों पर रुकना पड़ता है उससे जैसे उसकी यात्रा का प्रयाण विघात है उसी प्रकार मोक्षगामी योगी का अवशिष्ट कर्म भोग पूरा कर लेने हेतु बीच में देव आदि में से गुजरना होता है जो आपेक्षिक रूप में चरण चारित्र्य की ओर गतिशीलता में विघात या रुकावट है। पर, इतना निश्चित है उसके इस प्रयाण का समापन लक्ष्य प्राप्ति में होता है।

मित्रा-दृष्टि—

[२१]

मित्रायां दर्शनं मन्दं यम इच्छादिकस्तथा ।
अखेदो देवकार्यादावद्वेषश्चापरत्र तु ॥

समस्त जगत के प्रति मित्र भाव के उद्बोधन के कारण यह दृष्टि मित्रा के नाम से अभिहित हुई है। इस दृष्टि के प्राप्त हो जाने पर

सत् श्रद्धोन्मुख बोध तो होता है पर वह मन्दता लिए रहता है। मित्रादृष्टि में स्थित साधक योग के प्रथम अंग यम[1] के प्रारम्भिक अभ्यास इच्छादि यम (यम के अभ्यासगत भेद इच्छायम, प्रवृत्तियम, स्थिरयम और सिद्धियम) को प्राप्त कर लेता है। देवकार्य, गुरुकार्य, धर्मकार्य में वह अखेद भाव—अपरिश्रान्तभाव में लगा रहता है। उसके खेद नामक आशय दोष अपगत हो जाता है—टल जाता है। जो देवकार्य आदि नहीं करते, उनके प्रति उसे द्वेष या मत्सर भाव नहीं होता।

[२२]

करोति योगबीजानामुपादानमिह स्थितः ।
अवन्ध्यमोक्षहेतूनामिति योगविदो विदुः ॥

योगवेत्ताओं को यह सुविदित है कि इस (मित्रा) दृष्टि में स्थित साधक मोक्ष के अमोघ—अचूक हेतु भूत योग-बीजों का स्वीकार करता है।

[२३]

जिनेषु कुशलं चित्तं तन्नमस्कार एव च ।
प्रणामादि च संशुद्धं योगबीजमनुत्तमम् ॥

अर्हतों के प्रति शुभभावमय चित्त, उन्हें नमस्कार तथा मानसिक, वाचिक, कायिक शुद्धिपूर्ण प्रणमन आदि भक्ति भावमय प्रवृत्ति परमोत्कृष्ट योग बीज हैं।

[२४]

चरमे पुद्गलावर्ते तथाभव्यत्वपाकतः ।
संशुद्धमेतन्नियमान्नान्यदापीति तद्विदः ॥

---

१ अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।

—पातञ्जलयोगसूत्र २.३०

तथाभव्यता—जीव सिद्धि आदि की अपेक्षा से आत्मा की अनुपूर्ती योग्यता के परिपाक से 'चरमपुद्गलावर्त' में समर्थ से हो, अन्यथा नहीं, कुशल चित्त आदि योग बीज संशुद्ध होते हैं ऐसा जानते हैं योगी ऐसा जानते हैं।

[२५]

उपादेयाधियात्यन्त संज्ञाविष्कम्भणान्वितम् ।
फलाभिसन्धिरहितं संशुद्धं ह्येतदीदृशम् ॥

अत्यन्त उपादेय बुद्धिपूर्वक आहार आदि संज्ञाओं[2] के निरोध से युक्त, फल की कामना से रहित स्थिति संशुद्ध होती या मानी है।

[२६]

आचार्यादिष्वपि ह्येतद्विशुद्धं भावयोगिषु ।
यथावृत्तम् च विधिवच्छुद्धाशयविशेषतः ॥

भावयोगी—यथावत जिनकी आत्मा योग—अध्यात्म-योग में परिणत है उन आचार्य आदि सत्पुरुषों की विशुद्ध—कुशल चित्त तथा शुद्ध आशयपूर्वक विधिवत सेवा भी योगबीजों में समाविष्ट है।

[२७]

भवोद्वेगश्च सहजो द्रव्याभिग्रहपालनम् ।
तथा सिद्धान्तमाश्रित्य विधिना लेखनादि च ॥

---

१ जीव द्वारा ग्रहण-त्याग किए जाते लोकव्याप्त समस्त पुद्गलों का एक बार संस्पर्श एक पुद्गलावर्त कहा जाता है। इस क्रम का अंतिम आवर्त जिसके चुकने पर जीव को पुनः इस चक्र में नहीं आना पड़ता चरम पुद्गलावर्त कहा जाता है। इसी ग्रंथ के अन्तर्गत योगशतक की ९वीं गाथा के सन्दर्भ में इसका विस्तृत विवेचन किया गया है।

२ संज्ञाएं—१ आहार संज्ञा २ भय संज्ञा ३ मैथुन-संज्ञा ४ परिग्रह संज्ञा ५ क्रोध-संज्ञा ६ मान संज्ञा ७ माया-संज्ञा ८ लोभ-संज्ञा ९ ओघ (सामान्य लोक प्रवाह—गतानुगतिकता के अनुरूप जीवनक्रम) संज्ञा तथा १० लोक संज्ञा।

सहजरूप म ससार के प्रति वराग्य द्रव्य अभिग्रह—सत्पात्र को निर्दोष आहार औषधि, उपकरण आदि का सम्यक दान तथा सिद्धान्त या सत शास्त्रा का लेखन आदि योगबीज म आते हैं।

[२८]

लेखना पूजना दान श्रवण वाचनोद्ग्रह ।
प्रकाशनाथ स्वाध्यायश्चिन्तना भावनेति च ॥

गत (सत्ताइसव) श्लोक म लखना के साथ आये आदि शब्द स सत शास्त्रा के लखन क साथ-साथ उनकी पूजा सत्पात्र को दान शास्त्र श्रवण वाचन, विधिपूवक शुद्ध उपधान क्रिया आदि द्वारा शास्त्रा का उद्ग्रहण—सम्मान आत्मार्थी जिज्ञासुजना म शास्त्रा का प्रकाशन प्रसार स्वाध्याय चिन्तन मनन तथा पुन-पुन आवतन ग्राह्य ह।

[२९]

बीजश्रुतौ च सवेगात प्रतिपत्ति स्थिराशया ।
तदुपादेयभावश्च परिशुद्धो महोदय ॥

योग बीजो के सुनन पर उत्पन्न भावोल्लास—श्रद्धारूप म जो तद्विषयक मान्यता सुस्थिर होती है, वह भी योग-बीजा म समाविष्ट है। योग बीजा के प्रति शुद्ध एव समुन्नत उपादेय भाव भी योग-बीजा के अन्तगत है।

[३०]

एतद्भावमले क्षीणे प्रभूते जायते नृणाम ।
करोत्यव्यक्तचैतन्यो महत्काय न यत क्वचित ॥

जिन मनुष्या का भाव-मल—आन्तरिक मलिनता अत्यन्त क्षीण हो जाता है उनम योग-बीज उत्पन्न होत है—व योग-बीज के अधिकारी हैं। जिस मनुष्य की चेतना अव्यक्त—अजागरित—अस्फुटित है वह योग-बीज स्वायत्त करने जसा महत्त्वपूण काम नहीं कर सकता।

[३१]

चरमे पुद्गलावर्ते क्षयश्चास्योपपद्यते ।
जीवानां लक्षणं तत्र यत एतदुदाहृतम् ॥

अन्तिम पुद्गलावर्त में भावमल का क्षय होता है। उस स्थिति में वर्तमान जीवों का लक्षण इस प्रकार (अग्रिम श्लोक में वर्णनानुसार) है।

[३२]

दुःखितेषु दयात्यन्तमद्वेषो गुणवत्सु च ।
औचित्यासेवनं चैव सर्वत्रैवाविशेषतः ॥

दुःखी प्राणियों के प्रति अत्यन्त दया भाव, गुणीजनों के प्रति अद्वेष—अमत्सर भाव तथा सर्वत्र जहाँ जैसा उचित हो बिना किसी भेद भाव के व्यवहार करना, सेवा करना—यह उन जीवों का लक्षण है जिनका भावमल क्षीण हो जाता है।

[३३]

एवंविधस्य जीवस्य भद्रमूर्तेर्महात्मनः ।
शुभो निमित्तसंयोगो जायतेऽवञ्चकोदयात् ॥

इस भद्रमूर्ति—सौम्य स्वरूप महात्मा—उत्तम पुरुष को अवञ्चकोदय के कारण शुभ निमित्त का संयोग प्राप्त होता है।

[३४]

योगक्रियाफलाख्यं यत् श्रूयतेऽवञ्चकत्रयम् ।
साधूनाश्रित्य परममिषुलक्ष्यक्रियोपमम् ॥

साधकों में तीन अवञ्चक—योगावञ्चक, क्रियावञ्चक तथा फलावञ्चक प्राप्त होते हैं यों सुना जाता है।

जो वञ्चना—प्रवञ्चना न करे, कभी न चूके, उलटा न जाय, बाण की तरह सीधा अपने लक्ष्य पर पहुँचे उसे अवञ्चक कहा गया है। सद्गुरु का सुयोग प्राप्त होना योगावञ्चक है। उनका वन्दन, नमन, सेवा, सत्कार आदि शुभ क्रियाएँ क्रियावञ्चक है। इस उत्तम कार्य का फल जो अमोघ होता है फलावञ्चक है।

[३५]

एतच्च सत्प्रणामादिनिमित्तं समये स्थितम् ।
अस्य हेतुश्च परमस्तथाभावमलाल्पता ॥

सत्प्रणाम—सत्पुरुषों को प्रणमन, उनकी वैयावृत्य—सेवा आदि सत्कार्यों के परिणामस्वरूप अवञ्चकत्रय की प्राप्ति होती है। सत्प्रणाम आदि उत्तम कार्यों का मुख्य हेतु भावमल—कर्मगत मलिनता की अल्पता है।

[३६]

नास्मिन् घने यतः सत्सु तत्प्रतीतिर्महोदया ।
किं सम्यग् रूपमादत्ते कदाचिन्मन्दलोचनः ॥

जब तक भावमल सघनता लिए रहता है, तब तक साधक के मन में सत्पुरुषों के प्रति महोदय—उत्कृष्ट आत्म अभ्युदय या आत्म श्रेयस्कर प्रतीति नहीं जागती। जिसकी नेत्र-ज्योति मन्द है, ऐसा पुरुष क्या दृश्य पदार्थों का रूप भलीभाँति ग्रहण कर सकता है ?

[३७]

अल्पव्याधिर्यथा लोके तद्विकारैर्न बाध्यते ।
चेष्टते चेष्टसिद्ध्यर्थं वृत्त्यैवायं तथा हिते ॥

अल्पव्याधि—जिसके बहुत थोड़ी बीमारी बाकी रही है—जो लगभग स्वस्थ जैसा है, वह अवशिष्ट रहे अति साधारण रोग के मामूली विकारों से बाधित नहीं होता। वह इच्छित कार्य साधने के लिए प्रयत्नशील रहता है। उसी प्रकार वह योगी—योग साधक वृत्ति—धृति, श्रद्धा, सुखविज्ञप्ति—सत्तत्त्व चर्चा तथा विज्ञप्ति—विशिष्ट ज्ञानानुभूति—इन चार अन्तर क्रियाओं के साथ हितकर कार्य में प्रवृत्त होता है।

[३८]

यथाप्रवृत्तिकरणे चरमेऽल्पमलत्वतः ।
आसन्नग्रन्थिभेदस्य समस्तं जायते ह्यदः ॥

का दूसरा अंग नियम यहाँ सधता है अर्थात् शौच सन्तोष तप, स्वाध्याय तथा परमात्म चिन्तन—जीवन में फलित होते हैं।[1] आत्म हितकर प्रवृत्ति में अनुद्वेग—उद्वेग का अभाव अर्थात् उत्साह तथा तत्त्वानुगी जिज्ञासा उत्पन्न होती है।

[४२]

भवत्यस्यां तथाच्छिन्ना प्रीतिर्योगकथास्वलम् ।
शुद्धयोगेषु नियमाद् बहुमानश्च योगिषु ॥

इस दृष्टि में योग कथा—योग सम्बन्धी चर्चा में साधक अच्छिन्न—विच्छेद रहित या अखण्डित प्रीति—अभिरुचि लिए रहता है। शुद्ध योगनिष्ठ योगियों का वह नियमपूर्वक बहुमान करता है।

[४३]

यथाशक्त्युपचारश्च योगवृद्धिफलप्रद ।
योगिनां नियमादेव तदनुग्रहधीयुत ॥

शुद्ध योगनिष्ठ योगियों के बहुमान के साथ साथ वह साधक उनके प्रति यथाशक्ति सेवा भाव लिए रहता है—उनकी सेवा करता है। इससे उसे अपनी योग-साधना में निश्चय ही विकासात्मक फल प्राप्त होता है तथा शुद्ध योगनिष्ठ सत्पुरुषों का अनुग्रह मिलता है।

[४४]

लाभान्तरफलश्चास्य श्रद्धायुक्तो हितोदय ।
क्षुद्रोपद्रवहानिश्च शिष्टा-सम्मतता तथा ॥

सेवा से और भी लाभ प्राप्त होते हैं—श्रद्धा का विकास होता है आत्महित का उदय होता है क्षुद्र—तुच्छ उपद्रव मिट जाते हैं एवं शिष्टजनों में उसे मान्यता प्राप्त होती है।

---

[1] शौचसन्तोषतप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा ।

—पातंजल योगसूत्र २ ३२

[४५]

भयं नातीव भवजं कृत्यहानिर्न चोचिते ।
तथानाभोगतोऽप्युच्चैर्न चाप्यनुचितक्रिया ॥

इस दृष्टि में अवस्थित पुरुष को भव—जन्म मरण रूप आवागमन का अत्यन्त भय नहीं होता। उचित कार्य में कृत्य हानि—अनादर नहीं होती अर्थात् जो कार्य करता है वह यथोचित करता है। अनजाने भी उससे कोई अनुचित क्रिया नहीं बनता।

[४६]

कृत्येऽधिकेऽधिकगते जिज्ञासा लालसान्विता ।
तुल्ये निजे तु विकले संत्रासो द्वेषवर्जितः ॥

जो गुणों में अधिक या आगे बढ़े हुए, जिनके कार्य भी बढ़े हों, उनके प्रति साधक के मन में लालसापूर्ण—उत्कण्ठायुक्त जिज्ञासा उत्पन्न होती है। अपने विकल—त्रुटियुक्त कार्य के प्रति उसके मन में द्वेषरहित संत्रास होता है अर्थात् वह अपनी कमियों के लिए अन्तरतम में संताप का अनुभव करता है मन में जरा भी उनके लिए द्वेष भाव नहीं लाता।

[४७]

दुःखरूपो भवः सर्व उच्छेदोऽस्य कुतः कथम् ।
चित्रा सतां प्रवृत्तिश्च साऽशेषा ज्ञायते कथम् ॥

यह सारा संसार दुःखरूप है। किस प्रकार इसका उच्छेद हो? सत्पुरुषों की विविध प्रकार की आश्चर्यकर सत्प्रवृत्तियों का ज्ञान कैसे हो? साधक ऐसा सात्त्विक चिन्तन लिए रहता है।

[४८]

नास्माकं महती प्रज्ञा सुमहान् शास्त्रविस्तरः ।
शिष्टाः प्रमाणमिह तदित्यस्यां मन्यते सदा ॥

उनका चिन्तन क्रम आगे बढ़ता है—हमारे में विशेष बुद्धि नहीं है न शास्त्राध्ययन ही विस्तृत है इसलिए सत्पुरुष ही हमारे लिए प्रमाणभूत हैं।

[४६]

सुखासनसमायुक्तं बलायां दर्शनं दृढम् ।
परा च तत्त्वशुश्रूषा न क्षेपो योगगोचरः ॥

बलादृष्टि में सुखासनयुक्त दृढ दर्शन—सद्बोध प्राप्त होता है
परम तत्त्व शुश्रूषा—तत्त्व-श्रवण की अत्यन्त तीव्र इच्छा जागती है तथा
योग की साधना में क्षेप—क्षेप नामक चित्त-दोष या चित्तगत विक्षेप
का अभाव होता है।

इस दृष्टि में योग के तीसरे अंग आसन[1] के सधन की बात कही
गयी है। यहाँ सुखासन शब्द का प्रयोग इस बात का सूचक है कि जिस
प्रकार सुखपूर्वक शान्ति में बैठा जा सके उस आसन में योगी को स्थित
होना चाहिए। इससे मन में उद्वेग नहीं होता। ध्यान आदि में चित्त
स्थिर रहता है।

बाह्य आसन के साथ साथ आन्तरिक आसन की बात भी यहाँ
समझने योग्य है। आध्यात्मिक दृष्टि से पर वस्तु में जो आसन या स्थिति
है वह दुःखप्रद है। इसलिए वह दुःखासन है। अपने सहज स्वरूप में स्थित
होना पारमार्थिक दृष्टि में सुखासन—सुखमय आसन है।

[५०]

नास्यां सत्यामसत्तृष्णा प्रकृत्यैव प्रवर्तते ।
तदभावाच्च सर्वत्र स्थितमेव सुखासनम् ॥

इस दृष्टि के आ जाने पर असत् पदार्थों के प्रति तृष्णा सहज ही
प्रवृत्तिशून्य हो जाती है अर्थात् स्वतः रुक जाती है। यों तृष्णा का अभाव
हो जाने पर साधक की सब कहीं सुखमय—आत्मिक उल्लासमय स्थिति
बन जाती है।

---

१ स्थिरसुखमासनम्।

—पातञ्जल योगसूत्र २ ४६

अन्तःकरण द्वारा तत्त्व-श्रवण की स्थिति बनती है, अन्तर्ग्राहकता का भाव उदित होता है। पर, सूक्ष्मबोध अधिगत करना अभी बाकी रहता है। वैसी स्थिति नहीं बनती।

प्राणायाम केवल रेचक—श्वास को बाहर निकालना, पूरक—भीतर खींचना तथा कुम्भक या घड़े में पानी की तरह श्वास को भीतर निश्चल तया रोके रखना—या बाहरी प्रक्रिया तक ही सीमित नहीं माना जाना चाहिए। बाह्य भाव या परभाव का रेचन—परभाव को अपने में से बाहर निकालना, अन्तरात्मभाव—आत्मस्वरूपानुप्रत्यय भीतर भरना—अन्तरतम को तन्मूलक चिन्तन मनन से आपूर्ण करना, उस प्रकार के चिन्तन मनन को अपने में स्थिर किये रहना—यह भाव प्राणायाम है जिसका आत्म विकास में बहुत बड़ा महत्त्व है।

[५८]

प्राणेभ्योऽपि गुरुर्धर्मः सत्यामस्यामसंशयम् ।
प्राणांस्त्यजति धर्मार्थं न धर्मं प्राणसंकटे ॥

इस दृष्टि में संस्थित साधक का मनःस्तर इतना ऊँचा हो जाता है कि वह निश्चित रूप में धर्म को प्राणों से भी बढ़कर मानता है। वह धर्म के लिए प्राणों का त्याग कर देता है पर प्राणघातक संकट आ जाने पर भी धर्म को नहीं छोड़ता।

[५९]

एक एव सुहृद्धर्मो मृतमप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति ॥

धर्म ही एक मात्र ऐसा सुहृद्—मित्र है जो मरने पर भी साथ जाता है। और सब तो शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है, शरीर के साथ कोई भी नहीं जाता।

[६०]

इत्थं सदाशयोपेतस्तत्त्वश्रवणतत्परः ।
प्राणेभ्यः परमं धर्मं बलादेव प्रपद्यते ॥

साधक यों सात्त्विक भावों से आप्यायित हो जाता है। वह तत्त्व श्रवण म तत्पर रहता है। आत्मबल के सहारे धम को प्राणो से भी बढकर मानता है।

[६१]

क्षाराम्भस्त्यागतो यद्व मधुरोदकयोगत ।
बीज प्ररोहमाधत्ते तद्वत्तत्त्वश्रुतेनर ॥

खारे पानी के त्याग और मीठ पानी के योग म जसे बीज उग जाता है उसी प्रकार तत्त्व श्रवण से साधक के मन म बोध बीज अकुरित हो जाता है।

प्ररोह शब्द का एक अथ बीज का उगना या अकुरित होना है दूसरा अथ ऊपर चढना या आगे बढना भी है। इस दूसरे अथ के अनुसार साधक साधना सोपान पर चढता जाता है अथवा साधना-पथ पर आग बढता जाता है।

[६२]

क्षाराम्भस्तुल्य इह च भवयोगोऽखिलो मत ।
मधुरोदकयोगेन समा तत्त्वश्रुतिस्तया ॥

भवयोग—सासारिक प्रसग—जागतिक पदाथ एव भोग खारे पानी के समान माने गये हैं तथा तत्त्व-श्रवण मधुर जल के समान है।

[६३]

अतस्तु नियमादेव कल्याणमखिल नणाम ।
गुरुभक्तिसुखोपेत लोकद्वयहितावहम् ॥

अत तत्त्व-श्रवण म नियमत—निश्चित रूपेण साधक जनो का सम्पूण कल्याण सधता है। इसमे गुरुभक्ति रूप सुख प्राप्त होता है और यह ऐहिक तथा पारलौकिक—दोनों अपेक्षाओ स हितकर है।

[६४]

गुरुभक्तिप्रभावेन तीर्थकृद्दर्शनं मतम् ।
समापत्त्यादिभेदेन निर्वाणैकनिबन्धनम् ॥

गुरु भक्ति के प्रभाव से समापत्ति—परमात्मस्वरूप—शुद्ध आत्म स्वरूप के ध्यान द्वारा तीर्थंकर दर्शन—तीर्थंकर स्वरूप का अन्तःसाक्षात्कार होना है अथवा तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध होता है जिससे फलस्वरूप तीर्थंकरभाव की प्राप्ति होती है। यह मोक्ष का अविनाभाव—अमोघ—सुनिश्चित कारण है।

[६५]

सम्यग्हेत्वादिभेदेन लोके यस्तत्त्वनिर्णयः ।
वेद्यसंवेद्यपदतः सूक्ष्मबोधः स उच्यते ॥

जीवन का साध्य उसका यथार्थ हेतु उसकी परिपुष्टि, तत्त्व के स्वरूप फल आदि द्वारा मानो जो तत्त्व का निर्णय करते है। वेद्य—वेद्य योग्य, जानने योग्य या अनुभव करने योग्य तत्त्व की अनुभूति के कारण वह ज्ञान सूक्ष्मबोध कहा जाता है।

[६६]

भवाम्भोधिसमुत्तारात्कर्मवज्रविभेदतः ।
ज्ञेयव्याप्तेश्च कार्त्स्न्येन सूक्ष्मत्वं नायमत्र तु ॥

संसार सागर से निस्तार कर्मवज्र—कर्मरूपी हीरे का विभेद तथा अनन्तधर्मात्मक अखण्ड वस्तु-तत्त्व रूप ज्ञेय का समग्रता से ग्रहण—यह सब इससे सधता है इसलिए इसे सूक्ष्मबोध कहा गया है। अर्थात् एतद्रूप सूक्ष्मबोध हो जाने पर साधक अनन्त जन्म मरण के चक्र से छूट जाता है। महामोह रूप दुर्भेद्य कर्मग्रन्थि टूट जाती है और ज्ञेय तत्त्व सम्पूर्णतया अधिगत हो जाता है। यह इसकी फल निष्पत्ति है।

यह सूक्ष्मबोध इस दृष्टि मे तथा इससे नीचे की दृष्टियों में प्राप्त नहीं होता।

[६७]

अवेद्यसंवेद्यपद यस्मादासु तथोल्बणम ।
पक्षिच्छायाजलचरप्रवृत्त्याभमत परम ॥

पिछली चार दृष्टियो म अवेद्यपद—जानने योग्य को अनुभूत कर पाने की क्षमता का अभाव बहुत प्रबल होता है अत वेद्यसंवेद्यपद वहाँ नहीं सध पाता। आकाश म उडते पक्षी की छाया को पक्षी जानकर पकड़ने का उद्यम करते जलचर जैसी स्थिति साधक की वहाँ होती है। अर्थात तत्त्वत वहाँ वेद्यसंवेद्यपद की प्राप्ति नहीं होती। उस दिशा म साधक का प्रयत्न तो रहता है पर वह यथार्थ सिद्ध नहीं होता।

[६८]

अपायशक्तिमालिन्य सूक्ष्मबोधविबन्धकृत ।
नैतद्वतोऽस्य तत्तत्त्वे कदाचिदुपजायते ॥

अपाय—जो नरक आदि दुर्गति प्राप्त कराएँ ऐसे क्लिष्ट कर्मों की शक्ति रूप मलिनता सूक्ष्मबोध प्राप्त होने म बाधक होती है। यह मालिन्य जिसके होता है, उसे सूक्ष्म तत्त्व-बोध कभी अधिगत नहीं होता।

[६९]

अपायदर्शन तस्मात्श्रुतदीपान्न तात्त्विकम ।
तदाभालबन त्वस्य तथा पापे प्रवृत्तित ॥

आगम एक ऐसा दीपक है जो मोहरूप अधकार स आपूर्ण इस जगत् में समग्र पदार्थों का यथार्थ दर्शन कराता है परन्तु इस दृष्टि म स्थित साधक को अपाय शक्ति-रूप मलिनता के कारण तत्त्वत अपाय दर्शन नहीं होता अर्थात आत्म विपरीत स्थिति म ले जाने वाले क्लिष्ट कर्मों को वह यथावत देख नहीं पाता। वह केवल उनकी आभा या आभास मात्र का अनुभव कर पाता है क्योंकि वह तथाप्रकार के पापो में स्वय लगा है।

अतो,ऽन्युत्तराप्यस्मात् पापे कर्मागतोऽपि हि ।
तप्तलोहपदन्यासतुल्या वृत्ति क्वचिद्यदि ॥

अवेद्य-संवेद्यपद के प्रतिकूल—वेद्य-संवेद्यपद आगे की चार दृष्टि में प्राप्त रहता है। वेद्य-संवेद्यपद के परम प्रभाव के कारण साधक पाप-कार्य में प्रायः अप्रवृत्त रहता है। पूर्व-संचित अशुभ कर्मवश कदाचित् पाप में प्रवृत्ति हो भी जाती है तो वह तपे हुए लोहे पर पैर रखने जैसी होती है। जैसे तपे हुए लोहे पर यदि किसी का पैर टिक जाता है तो वह तत्क्षण वहाँ से हटा लेता है, उस पर भी टिकाये नहीं रखता। उसी प्रकार साधक की यदि जाने-अनजाने हिंसा आदि पापों में प्रवृत्ति हो जाती है तो वह तत्क्षण सावधान हो जाता है, उधर से अपने को उसी क्षण हटा लेता है।

[७१]

वेद्यसंवेद्यपदत संवेगातिशयादिति ।
चरमैव भवत्येषा पुनर्दुर्गत्ययोगत ॥

वेद्य संवेद्यपद प्राप्त हो जाने के कारण तथा तीव्र मोक्षाभिलाषा के कारण साधक द्वारा जो कदाचित् पाप प्रवृत्ति होती है, वह अन्तिम होती है। दृष्टिविकासक्रम की अग्रिम मंजिल में वह सर्वथा अवरुद्ध हो जाती है। क्योंकि जैसी स्थिति वह प्राप्त कर चुकता है, उसमें फिर दुर्गति पाने का योग—संभावना नहीं होती।

[७२]

अवेद्यसंवेद्यपदमपदं परमार्थत ।
पदं तु वेद्यसंवेद्यपदमेव हि योगिनाम् ॥

अवेद्यसंवेद्यपद वास्तव में पद—पैर टिकाने का स्थान—अध्यात्म विकास की यात्रा में उत्प्रेरक उपयोगी स्थान नहीं है। योगियों के लिए वेद्यसंवेद्य पद ही वस्तुतः पद है।

[७३]

वद्य सवद्यतें यस्मिन्नपायादिनिबंधनम ।
तथाप्रवृत्तिबुद्ध याऽपि स्त्र्याद्यागमविशुद्ध या ॥

वहां अपाय—आत्माभ्युदय में विघ्नकारक स्त्री आदि वेद्य—वेदन या अनुभव करने योग्य पदार्थ आगमों के अनुशीलन से विशुद्ध हुई अप्रवृत्तिशील बुद्धि द्वारा अनुभूत किये जाते है। अर्थात वेद्य पदार्थों का सवेदन—अनुभवन वहां होता है पर उनके प्रति रसात्मक या रागात्मक भाव नही होता जसा उनका स्वरूप है मात्र वसी प्रतीति—अनुभूति वहां गतिशील रहती है अत वसा अनुभव करने वाली शास्त्रपरिष्कृत बुद्धि आन्तरिक दृष्टि स प्रवृत्तिशून्य ही कही जाती है।

[७४]

तत्पद साध्ववस्थानाद भिन्नग्रन्थ्यादिलक्षणम ।
अन्वययोगतस्तत्र वेद्यसवेद्यमुच्यते ॥

वह पद साधु अवस्थान—सम्यक स्थिति लिए होता है। कर्मग्रन्थि भेद देशविरति आदि मे उसका स्वरूप लक्षित होता है। शास्त्र में (वेद्यसंवेद्य) शाब्दिक अर्थ के अनुरूप ही उसे वेद्यसंवेद्य' कहा जाता है।

[७५]

अवेद्यसवद्यपद विपरीतमतो मतम ।
भवाभिनन्दिविषय समारोपसमाकुलम ॥

वद्यसंवेद्यपद स विपरीत—प्रतिरूप अवेद्यसवद्यपद है। उसका विषय भवाभिनन्दिता है। अर्थात भवाभिनन्दी—ससार के राग रस म रचे-पचे जीवों के साथ उसका लगाव है। इसम एक पर दूसरे का—स्व पर पर-वस्तु का पर वस्तु पर स्व का आरोप करते रहने की वृत्ति बनी रहती है जो आत्म परिपन्थी या श्रेयस् के प्रतिकूल है।

[७९]

जन्ममृत्युजराव्याधि रोगशोकाद्युपद्रुतम् ।
वीक्ष्यमाणा अपि भवं नोद्विजन्तेऽतिमोहतः ॥

जन्म मृत्यु वृद्धावस्था कुष्ट आदि घोर कष्टकर दुसाध्य व्याधियाँ ज्वर, अतिसार, विसूचिका आदि अत्यन्त पीडाप्रद रोग इष्ट वियोग तथा अनिष्ट-सयोग जनित दुःसह शोक आदि अनेक उपद्रवो से पीडित जगत् को देखते हुए भी वस जीव अत्यधिक—प्रगाढ मोह के कारण उससे जरा भी उद्विग्न नहीं होते उसकी भयावहता विकरालता देख उनके मन मे खेद नही होता, उससे त्रस्त होकर उससे छूटने की भावना मन मे नही आती।

[८०]

कुकृत्यं कृत्यमाभाति कृत्यं चाकृत्यवत् सदा ।
दुःखे सुखधियाकृष्टा कच्छूकण्डूयकादिवत् ॥

उनको कुकृत्य—बुरा काय कृत्य—करने योग्य प्रतीत होता है। जो करने योग्य है वह उन्हे अकरणीय लगता है। जसे पाँव (खाज खुजली) को खुजलाने वाला व्यक्ति खुजला-खुजलाकर खून निकालता जाता है पर वसा करने मे वह अज्ञानवश सुख मानता है उसी प्रकार भवाभिनन्दी जीव दुःखमय संसार मे करणीय अकरणीय का भेद भूलकर हिंसा परिग्रह भोग आदि अकृत्यो मे प्रवृत्त रहते हैं। उनमे सुख मानते हैं।

[८१]

यथा कण्डूयनेष्वेषां धीर्न कच्छूनिवर्तने ।
भोगाङ्गेषु तथैतेषां न तदिच्छापरिक्षये ॥

जसे पाँव को खुजलाने वालो की बुद्धि मात्र खुजलाने मे होती है पाँव को मिटाने मे नही उसी प्रकार भवाभिनन्दी जीवो की बुद्धि भोगागो—भोग्य विषयो मे ही रहती है विषयो की इच्छा—आसक्ति को मिटाने मे नहीं।

आत्मानं पातयन्त्येते सदाऽसच्चेष्टया भृशम् ।
पापधूल्या जडाः कार्यमविचार्यैव तत्त्वतः ॥

ये जड जीव तात्त्विक दृष्टि से कार्य-अकार्य का विचार किये बिना बहुलतया असत् चेष्टा—हिंसा असत्य चौर्य कुशील आदि द्वारा अपनी आत्मा को पाप रूपी धूल से मलिन बनाते हैं और स्वयं ही अपने को पापमय बन्धनों में बाँधते जाते हैं।

[८३]

धर्मबीजं परं प्राप्य मानुष्यं कर्मभूमिषु ।
न सत्कर्मकृषावस्य प्रयतन्तेऽल्पमेधसः ॥

कर्मभूमि में उत्तम धर्मबीज रूप मानुष्य—मनुष्य जीवन प्राप्त कर मन्दबुद्धि पुरुष सत्कर्म रूपी खेती में प्रयत्न नहीं करते—दुर्लभ मनुष्य-जन्म का सत्कर्म करने में उपयोग नहीं करते।

[८४]

बडिशामिषवत्तुच्छे कुसुखे दारुणोदये ।
सक्तास्त्यजन्ति सच्चेष्टां धिगहो दारुणं तमः ॥

मच्छीमार द्वारा मछलियों को लुभाने हेतु काँटे में फँसाये हुए मांस के गले के मांस में लुब्ध होकर उसमें मछलियाँ फँस जाती हैं उसी प्रकार जिसका फल-परिपाक भीषण दुःखमय है वैसे तुच्छ, कुत्सित सुख में आसक्त हुए—लुभाए हुए मनुष्य सत् चेष्टा—शुभ प्रवृत्ति या उत्तम कार्य छोड़ देते हैं। उनके अज्ञान रूपी भीषण अन्धकार को धिक्कार है।

[८५]

अवेद्यसंवेद्यपदमान्ध्यं दुर्गतिपातकृत् ।
सत्सङ्गागमयोगेन जेयमेतन्महात्मभिः ॥

अवेद्यसंवेद्यपद वास्तव में अन्धत्व है जिसके कारण मनुष्य दुर्गति में गिरते हैं। सत्पुरुषों की संगति तथा उनसे आगम श्रवण अध्ययन द्वारा

शीलन आदि द्वारा सत्त्वशील पुरुष इस (अवाञ्छनीय) स्थिति को जीत सकते हैं इसे पराभूत कर सकते हैं।

[८६]

जीयमाने च नियमादेतस्मिस्तत्त्वतो नृणाम्।
निवर्तते स्वतोऽत्यन्तं कुतर्कविषमग्रहः॥

अवद्यसंवद्य पद के जो महामिथ्यात्व का कारण है जीत लिए जाने पर कुतर्क—कुत्सित या कुटिल तर्क—व्यर्थ तर्क वितर्क आवेश—अभिनिवेश की पकड़ स्वयं निश्चित रूप से यथार्थतः सर्वथा मिट जाती है अथवा कुतर्क रूप अनिष्ट ग्रह या भयावह प्रेत या दुर्धर्ष मगरमच्छ की पकड़ से मनुष्य सर्वथा छूट जाते हैं।

[८७]

बोधरोगः शमापायः श्रद्धाभङ्गोऽभिमानकृत्।
कुतर्कश्चेतसो व्यक्तं भावशत्रुरनेकधा॥

कुतर्क बोध के लिए रोग के समान बाधा जनक शम—आत्मशान्ति के लिए अपाय—विघ्न या हानिप्रद श्रद्धा का भग्न करने वाला तथा अभिमान को उत्पन्न करने वाला है। वह स्पष्टतः चित्त के लिए अनेक प्रकार से भाव शत्रु है—चित्त का अनेक प्रकार से अहित करने वाला है।

[८८]

कुतर्केऽभिनिवेशस्तन्न युक्तो मुक्तिवादिनाम्।
युक्तः पुनः श्रुते शीले समाधौ च महात्मनाम्॥

मुक्तिवादी—मोक्ष की चर्चा करने वाले—मुमुक्षु जनों के लिए कुतर्काभिनिवेश—कुतर्क में लगे रहना, रस लेना आग्रह रखना युक्तिसंगत नहीं है। वस्तुतः उत्तम पुरुष के लिए श्रुत—सद् आगम शील—सच्चारित्र्य तथा समाधि—ध्याननिष्ठा में ही लगाव रखना, आग्रह लिये रहना समुचित है।

बीज कारण पर सिद्धमवन्य सत्वयोगिनाम।
परानरण येन परिशुद्धमतो न च॥

अत, मौन तथा समाधि का परम बीज--मुख्य कारण, तत्र योगि को सिद्ध तथा अपूर्व फलप्रद परिशुद्ध--शुद्ध भावना से सम्पादित परायण है। उसी म नगाव या आग्रह रखा गया है।

[९०]

अविद्यासगता प्रायो विकल्पा सर्व एव यत।
तद्योजनात्मकश्चैव कुतर्क किमनेन तत॥

सभी विकल्प --- सविकल्प आदि प्रायश अविद्यासगत --अविद्या के सहवर्ती --- आदि से उत्पन्न निष्पन्न हैं। उन (अविद्यासगत) विकल्पों का योजन--उत्पादन एक दूसरे के साथ जोडने वाला कुतर्क है। अत एस कुतर्क से क्या प्रयोजन?

[९१]

जातिप्रायश्च सर्वोऽय प्रतीतिफलबाधित।
हस्ती व्यापादयत्युक्तौ प्राप्ताप्राप्तविकल्पवत॥

सारा कुतर्क जो प्रतीति और फल से रहित है--जिसमें वर्णित वस्तु का प्रत्यय नहीं होता उसके सम्बन्ध में सशयात्मकता बनी रहती है तथा जिसमें कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता दूषणाभास प्रधान है। अर्थात् वह प्राय हर कहीं दूषण जैसे दिखाई देते छिद्र खोजता रहता है।

इस सन्दर्भ में एक दृष्टान्त है--न्यायशास्त्र का एक विद्यार्थी कहीं से आ रहा था। मार्ग में एक मदोन्मत्त हाथी मिला जिस पर बैठा महावत चिल्लाया--दूर हट जाओ, यह हाथी मार डालता है। नैयायिक विद्यार्थी ने तर्क किया--हाथी पास में अवस्थित को मारता है या पास में अनवस्थित को मारता है? इतने में हाथी उस पर झपट पडा। महावत ने किसी प्रकार उसे छुडाकर बचाया। नैयायिक विद्यार्थी का यह तर्क कुतर्क था महावत के कथन में दोष खोजने वाला या उसका खण्डन करने वाला था। उसका

जड आशय यह था कि हाथी तो पास में स्थित को पहले मारता है जो पास में स्थित नहीं है, उसे कम मारेगा ? पर पास में तुम (महावत) ही हो इसलिए तुम्हें ही मारेगा। नैयायिक पद्धति से यह तर्क तो उसने किया पर उसके साथ यह व्यावहारिक तथ्य नहीं सोचा कि महावत उसके समीप तो है पर सुपरिचित है वह महावत से अनुशासित है महावत को वह कैसे मारेगा ? इसलिए कुतर्क प्रतीतिशून्य और प्रयोजनशून्य कहा गया है।

[६२]

स्वभावोत्तरपर्यन्त एषोऽसावपि तत्त्वतः ।
नार्वाग्दृग्गोचरो न्यायादन्यथाऽन्येन कल्पितः ॥

कुतर्क का पर्यवसान स्वभाव में होता है अर्थात उसका अन्तिम उत्तर स्वभाव है। पर वह (स्वभाव) भी अर्वाग्दृक्--छद्मस्थ--असर्वज्ञ को ज्ञात नहीं होता। क्योंकि नैयायिक पद्धति से उसके सन्दर्भ में अनेक प्रकार की परिकल्पनाएं की जा सकती है जो तर्कगम्य तो हो सकती है पर तथ्यपरक नहीं होती।

[६३]

अतोऽग्निः क्लेदयत्यम्बुसंनिधौ दहतीति च।
अम्ब्वग्निसंनिधौ तत्स्वाभाव्यादित्युदिते तयोः ॥

उष्ण जल वस्तु को भिगो देता है उसे देख उसमें रहे अग्नि के समावेश को उद्दिष्ट कर कोई कुतर्क करे कि अग्नि का स्वभाव भिगोना है तथा उष्ण जल जला भी देता है उसे उद्दिष्ट कर दूसरा व्यक्ति ऐसा भी कुतर्क कर सकता है कि जल जलाता है। ये दोनों ही बातें संगत नहीं हैं। यह जो भिगाने और जलाने की बात हुई उसका तथ्य तो यह है कि उष्ण जल भिगोता है, वहाँ जल का भिगाने का स्वभाव कार्य करता है तथा जहाँ वह जलाता है, वहाँ अग्नि का जलाने का स्वभाव कार्यकर है अतः वास्तव में भिगोना जल का स्वभाव है और जलाना अग्नि का। पर पूर्वोक्त रूप में कुतर्क स्वभाव विरुद्ध भी किया जा सकता है।

[९७]

सर्वं सर्वत्र चाप्नोति यदस्मादसमञ्जसम्।
प्रतीतिबाधितं लोके तदनेन न किञ्चन॥

कुतर्क द्वारा सब कहीं सब कुछ साध्य मान या दुष्प्रयत्न किया जा सकता है। अतएव कुतर्क असमञ्जस है—बाधित है प्रतीति से बाधित है—कुतर्क द्वारा निरूपित या साधित बात से कोई प्रगति नहीं करता, उसे मान्यता नहीं देता।

[९८]

अतीन्द्रियार्थसिद्ध्यर्थं यथालोचितकारिणाम्।
प्रयासः शुष्कतर्कस्य न चासौ गोचरः क्वचित्॥

आलोचितकारी—आलोचन चिन्तन विमर्शपूर्वक कार्य करने वाले *अतीन्द्रिय—जो इन्द्रियों से गृहीत नहीं किए जा सकते ऐसे आत्मा धर्म* आदि पदार्थों को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं—उस दिशा में प्रयत्नशील रहते हैं। ये अतीन्द्रिय पदार्थ शुष्क तर्क द्वारा गम्य नहीं हैं—ये शुष्क तर्क के विषय नहीं हैं अनुभूति एवं श्रद्धा के विषय हैं।

[९९]

गोचरस्त्वागमस्यैव, ततस्तदुपलब्धितः।
चन्द्रसूर्योपरागादिसंवाद्यागमदर्शनात्॥

स्थूल इन्द्रियों से जिसका ग्रहण सम्भव नहीं, ऐसा अतीन्द्रिय अर्थ आगम—आप्त-पुरुषों के वचन द्वारा उपलब्ध होता है। चन्द्रग्रहण सूर्यग्रहण आदि जिनके होने का ज्ञान स्थूल इन्द्रियों द्वारा नहीं होता, ज्ञानी जनों के वचन द्वारा जाने जाते हैं। ऐसे संवादी—मेल खाने वाले, संगत उदाहरणों से यह तथ्य स्पष्ट है। यद्यपि चन्द्रग्रहण सूर्यग्रहण आदि आत्मा धर्म जैसे अलौकिक अतीन्द्रिय अर्थ नहीं हैं लौकिक हैं अतः तत्त्वतः आध्यात्मिक पदार्थों से इनकी वास्तविक संगति नहीं है पर स्थूल रूप में समझाने के लिए यहाँ इनका दृष्टान्त उपयोगी है।

काशापानावृत शाणापाया मागरयन ...
विप्रकृष्टो यमपातं स्थाय‌दूर् दृश्यते यत ॥

केवल शब्द मात्र को ही जाना—उसे गोल जाना—प्रत्यक्ष अथवा ही ठीक मानना नाम का उपाय रहा है। शब्दाकोश मुनिगण ज्ञान युक्तियाँ उपयोग में आ न सकता है। मोर दूरस्थ मोटे को मोटा है यह सही है पर वह मोटे न कुछ दूरी पर हाथी पर भी मोटा है किन्तु समीप होने पर नहीं। दूर रहने पर मोटा है यह युक्तिसाध्य है केवल शब्दसाध्य नहीं।

[६५]

दृष्टान्तमात्र सवत्र यदेव सुलभ क्षितौ ॥
एतत्प्रधानतस्तर्केन स्वनीत्यापोद्यते ह्ययम ॥

इस पृथ्वी पर सवत्र—सगत-असंगत सभी विषयो में दृष्टान्त आमने मे प्राप्त हो जाते हैं—वने गढे जा सकते हैं। यही कारण है कि दृष्टान्त प्रधान कुतक को अपनी नीति द्वारा कौन बाधित कर सकता है ? अर्थात जब सत्य असत्य हर प्रकार के दृष्टान्त गढे जा सकते है तो उनकी राह कैसे ही ?

[६६]

द्विचन्द्रस्वप्नविज्ञाननिदर्शनवलोत्थित ।
निरालम्बनता सवज्ञानाना साधयन यथा ॥

चन्द्रमा यद्यपि एक है पर दोषयुक्त नेत्र द्वारा दो भी दिखलाई पड सकते हैं उसी प्रकार स्वप्न मिथ्या है पर उसका ज्ञान तो है। यद्यपि इनका कोई आधार, आलम्बन या मूल नहीं है फिर भी इसके दृष्टान्त के सहारे कोई यह दावा कर सकता है कि जिस प्रकार असत्य या अयथार्थ होने के बावजूद इनकी प्रतीति होती है उसी प्रकार दूसरे जो भी ज्ञान है प्रतीयमान हैं वे क्या नहीं निराधार या निरालम्बन हैं अर्थात वे भी वहीं ही हो सकते हैं। या दलील करने वाले को कौन रोके ?

[९७]

सर्वं सर्वत्र चाप्नोति यस्मादसमञ्जसम् ।
प्रतीत्या बाधितं लोके तदनेन न किञ्चन ॥

कुतर्क द्वारा सब कहीं सब कुछ साध्य या दूषणीय किया जा सकता है। अतएव कुतर्क असमञ्जस है—असंगत है, प्रतीति से बाधित है—कुतर्क द्वारा निरूपित या साधित बात से कोई प्रतीति नहीं करता, उसे मान्यता नहीं देता।

[९८]

अतीन्द्रियार्थसिद्ध्यर्थं यथालोचितकारिणाम् ।
प्रयासः शुष्कतर्कस्य न चासौ गोचरः क्वचित् ॥

यथालोचितकारी—आलोचना, चिन्तन, विमर्शपूर्वक कार्य करने वाले अतीन्द्रिय—जो इन्द्रियों से गृहीत नहीं किए जा सकते, उन आत्मा, धर्म आदि पदार्थों को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं—उस दिशा में प्रयत्नशील रहते हैं। ये अतीन्द्रिय पदार्थ शुष्क तर्क द्वारा गम्य नहीं हैं—ये शुष्क तर्क के विषय नहीं हैं, अनुभूति एवं श्रद्धा के विषय हैं।

[९९]

गोचरस्त्वागमस्यैव, ततस्तदुपलब्धितः ।
चन्द्रसूर्योपरागादिसंवाद्यागमदर्शनात् ॥

स्थूल इन्द्रियों से जिसका ग्रहण सम्भव नहीं, ऐसा अतीन्द्रिय अर्थ आगम—आप्त-पुरुषों के वचन द्वारा उपलब्ध होता है। चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण आदि जिनके होने का ज्ञान स्थूल इन्द्रियों द्वारा नहीं होता, ज्ञानी जनों के वचन द्वारा जाने जाते हैं। उन संवादी—मेल खाने वाले, संगत उदाहरणों से यह तथ्य स्पष्ट है। यद्यपि चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण आदि आत्मा, धर्म जैसे अलौकिक अतीन्द्रिय अर्थ नहीं हैं, लौकिक हैं अतः तत्त्वतः आध्यात्मिक पदार्थों से इनकी वास्तविक संगति नहीं है पर स्थूल रूप में समझाने के लिए यहाँ इनका दृष्टान्त उपयोगी है।

[१००]

एतत्प्रधान सतश्राद्ध शीलवान् योगतत्पर ।
जानात्यतीन्द्रियानर्थास्तथा चाह महामति ॥

आगमप्रधान—श्रुत या आप्तवचन को मुख्य—सारभूत माननेवाले सत श्रद्धावान् योगनिष्ठ पुरुष अतीन्द्रिय पदार्थों को जानता है ऐसा महामति मुनियो (पतञ्जलि आदि) ने कहा है।

[१०१]

आगमेनानुमानेन योगाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन प्रज्ञा लभते तत्त्वमुत्तमम ॥

महर्षियो ने बताया है कि आगम अनुमान तथा योगाभ्यास में रस—तन्मयता—या तीन प्रकार से बुद्धि का उपयोग करता हुआ साधक उत्तम तत्त्व प्राप्त करता है—सत्य का साक्षात्कार करता है।

[१०२]

न तत्त्वतो भिन्नमता सर्वज्ञा बहवो यत ।
मोहस्तदधिमुक्तीना तद्भेदाश्रयण तत ॥

अनेक परपराओ मे भिन्न भिन्न नामो से जो अनेक सर्वज्ञ कहे गये हैं, वहाँ यह ज्ञातव्य है कि उन (सर्वज्ञो) मे किसी भी प्रकार का मतभेद या अभिप्राय भेद नहीं है। किन्तु उन उन सर्वज्ञो के अतिभक्त—अधिक श्रद्धालु जो उनमे भेद-कल्पना करते हैं वह उनका मोह प्रसूत अज्ञान है।

[१०३]

सर्वज्ञो नाम य कश्चित पारमार्थिक एव हि ।
स एक एव सर्वत्र व्यक्तिभेदेऽपि तत्त्वत ॥

सर्वज्ञ नाम से जो भी कोई पारमार्थिक आप्त पुरुष है व्यक्तिभेद के बावजूद तात्त्विक दृष्टि से सर्वज्ञ एक ही है।

[१०४]

प्रतिपत्तिस्ततस्तस्य सामान्येनैव यावताम् ।
ते सर्वेऽपि तमापन्ना इति न्यायगति परा ॥

व्यक्तिभेद के आधार पर जितने भी सर्वज्ञ कहे गये हैं, सर्वज्ञत्वरूप सामान्य गुण के आधार पर उनकी स्वरूपात्मक प्रतिपत्ति—मान्यता या पहचान एक ही है।

वे सभी समानगुणात्मक स्थिति को लिए हुए हैं। गुण सामान्यत्व के आधार पर नयायिक पद्धति से भी ऐसा ही फलित निष्पन्न होता है—ऐसा ही न्यायसंगत है।

[१०५]

विशेषेषु पुनरतस्य कात्स्र्न्येनासर्वदर्शिभि ।
सर्वैर्न ज्ञायते तेन तमापन्नो न कश्चन ॥

सर्वज्ञत्व की दृष्टि से सामान्यतया सर्वज्ञों में समानता है ऐसा ऊपर कहा गया है। सामान्य न सही उनमें परस्पर कोई विशेष भेद हो सकता है ऐसी आशंका भी संगत नहीं है। क्योंकि असर्वज्ञ या असर्वज्ञ सम्पूर्णरूप में सर्वज्ञों के विशेष भेद को जानने में सक्षम नहीं है। सम्पूर्ण ही सम्पूर्ण को जान सकता है अपूर्ण नहीं। इस दृष्टि से ऐसा कोई भी असर्वदर्शी पुरुष नहीं है जिसने सर्वज्ञों को सम्पूर्ण रूप में अधिगत किया हो उनकी विशेषताओं को समग्रतया स्वायत्त किया हो, जाना हो।

[१०६]

तस्मात्सामान्यतोऽप्येनमभ्युपैति य एव हि ।
निर्व्याज तुल्य एवासौ तेनाशेन धीमताम ॥

अत सामान्यत भी सर्वज्ञ को जो निर्व्याज रूप में—दम्भ कपट या बनाव के बिना मान्य करते हैं उतने अंश—उस अपेक्षा से उन प्रज्ञाशील पुरुषों का मानस अभिमत परस्पर तुल्य या समान ही है। अथवा बिना किसी बनाव दिखाव या दम्भ आदि के जो सर्वज्ञ-तत्त्व को स्वीकार करते हैं सच्चे भाव से उनकी आज्ञा प्ररूपणा का अनुसरण करते हैं वे सब उस अपेक्षा से परस्पर समान ही तो हैं।

[१०७]

यथवकस्य नपतेवहवोऽपि समाश्रिता ।
दूरासन्नादिभेदेऽपि तदभृत्या सव एव ते ॥

जम एव राजा के यहाँ रहने वाले अनक नौकर चाकर होते हैं उनमें भिन्न भिन्न कार्यों की दृष्टि से कोई दूर होते हैं कोई निकट होते हैं कोई वहीं होते हैं कोई वहीं। दूरी निकटता आदि भेद के बावजूद वे सभी सेवक तो राजा के ही हैं।

[१०८]

सवज्ञतत्त्वाभेदेन तथा सवज्ञवादिन ।
सर्वे तत्तत्त्वगा ज्ञेया भिन्नाचार स्थिता अपि ॥

सर्वज्ञ तत्त्व में कोई भेद नहीं है। अत सभी सर्वज्ञ कहे जाने वाले आप्त पुरुष भिन्न भिन्न आचार में स्थित होते हुए भी सवज्ञतत्त्वोपेत हैं।

[१०९]

न भेद एव तत्त्वेन सवज्ञाना महात्मनाम ।
तथा नामादि भेदेऽपि भाव्यमेत महात्मभि ॥

नाम आदि बाह्य भेद रहते हुए भी महान आत्मा सर्वज्ञों में तत्त्वत कोई भेद नहीं है ऐसा उत्तरवेत्ता पुरुषों को समझना चाहिए।

[११०]

चित्राचित्रविभागेन यच्च देवेषु वर्णिता ।
भक्ति सद्योगशास्त्रेषु तत्रोऽप्येवमिद स्थितम् ॥

शास्त्रों में भक्ति दो तरह की बतलाई गई है—चित्र—भिन्न भिन्न प्रकार की तथा अचित्र—अभिन्न भिन्न भिन्न प्रकार की न होकर एक ही प्रकार की। इससे भी पूर्वोक्त कथन सिद्ध होता है।

[१११]

ससारिषु हि देवेषु भक्तिस्तत्कायगामिनाम ।
तदतीते पुनस्तत्त्वे तदतीतार्थयायिनाम ॥

[११५]

इष्टापूर्तानि कर्माणि लोके चित्राभिसन्धित ।
नानाफलानि सर्वाणि दृष्टव्यानि विचक्षण ॥

जो सुयोग्य पुरुष यह समझें--जो इष्टापूर्त कर्म हैं, वे संसार में भिन्न भिन्न अभिप्राय से किये जाते हैं। अतः उनके फल भी भिन्न-भिन्न ही होते हैं।

[११६]

ऋत्विग्भिर्मन्त्रसंस्कारैर्ब्राह्मणानां समक्षत ।
अन्तर्वेद्यां हि यद्दत्तमिष्टं तदभिधीयते ॥

ऋत्विजों--यज्ञ में अधिकृत ब्राह्मणों द्वारा मन्त्रसंस्कारपूर्वक अन्य ब्राह्मणों की उपस्थिति में वेदी के भीतर--वेदी क्षेत्र के अन्तर्गत जो विधिवत् दान दिया जाता है, उसे इष्ट कहा जाता है।

[११७]

वापीकूपतडागानि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमेतत्तु पूर्तं तत्त्वविदो विदु ॥

बावड़ी कूए तालाब तथा देवमंदिर बनवाना अन्न का दान देना पूर्त है, ज्ञानीजन ऐसा जानते हैं, कहते हैं।

[११८]

अभिसंधे फलं भिन्नमनुष्ठाने समेऽपि हि ।
परमोऽत स एवेह वारीव कृषिकर्मणि ॥

अनुष्ठान के समान होने पर भी अभिसंधि-- अभिप्राय या आशय भिन्न होने पर फल भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। अतः जैसे खेती में जल प्रधान है उसी प्रकार फलसिद्धि में अभिप्राय की प्रधानता है।

[११९]

रागादिभिरयं चेह भिद्यतेऽनेकधा नृणाम् ।
नानाफलोपभोक्तॄणां तथा बुद्ध्यादिभेदतः ॥

भिन्न भिन्न प्रकार के पदार्थभाव का कारण लिये पुरुषा के बुद्धि —अथवा अपना बोध या ममता के भेद के अनुरूप राग म है इस आदि कारण निष्पन्न अभिरुचि या अभिप्राय का फल भिन्न भिन्न प्रकार का होता है।

[१२०]

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहस्त्रिविधो बोध इष्यते ।
तद्भेदात् सर्वकर्माणि भिद्यन्ते सर्वदेहिनाम् ॥

बुद्धि ज्ञान तथा असंमोह—या बोध तीन प्रकार का कहा गया है। बोधभेद के कारण सब प्राणियों के समस्त कर्म भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं।

[१२१]

इन्द्रियार्थाश्रया बुद्धिर्ज्ञानं त्वागमपूर्वकम् ।
सदनुष्ठानवच्चैतदसम्मोहोऽभिधीयते ॥

बुद्धि इन्द्रियों द्वारा जाने जाते पदार्थों पर आश्रित है—इन्द्रियगम्य पदार्थ बुद्धि के विषय हैं। उन द्वारा जो बोध होता है वह बुद्धि है। जो आगम—शास्त्र या श्रुत द्वारा बोध उत्पन्न होता है वह ज्ञान है। प्राप्त ज्ञान के अनन्तर सत् अनुष्ठान—सत्प्रवृत्ति या सदाचरण करना असंमोह है। अर्थात् सत्प्रयोग का असंमोह कहा जाता है, जब वह क्रियान्वित हो लेता है। वह सर्वोत्तम बोध है।

[१२२]

रत्नोपलम्भतज्ज्ञानतत्प्राप्त्यादि यथाक्रमम् ।
इहोदाहरणं साधु ज्ञेयं बुद्ध्यादिसिद्धये ॥

आँखों द्वारा देखकर यह रत्न है ऐसा समझना बुद्धि है। रत्न के लक्षण आदि का निरूपण करने वाले शास्त्र के आधार पर उस विशेष रूप में जानना उसके लक्षण स्वरूप आदि को स्वायत्त करना ज्ञान है। या उस ज्ञान से रत्न के निश्चित स्वरूप को जानकर उसे प्राप्त करना उपयोग में लेना असंमोह है। इन्द्रियों द्वारा पहचान एवं , ज्ञान कर

लेन तथा ग्रहण कर लेने के बाद सम्मोह या भ्रम नहीं रहता। इसलिए क्रियावचनपूर्वक ज्ञान की परिष्कृत अवस्था को असंमोह कहा गया है।

[१२३]

आदरः करणे प्रीतिरविघ्नः सम्पदागमः ।
जिज्ञासा तज्ज्ञसेवा च सदनुष्ठानलक्षणम् ॥

१ आदर--क्रिया के प्रति आदर युक्त, उपयोगपूर्वक क्रिया करना
२ प्रीति--क्रिया के प्रति आन्तरिक अभिरुचि, सरसता
३ अविघ्न--निर्विघ्नता पूर्वार्जित पुण्यवश निर्बाधरूप में क्रिया करना
४ सम्पदागम--सम्पत्ति--धन वैभव आदि द्रव्य सम्पत्ति तथा विनय विवेक ज्ञान वैराग्य आदि भाव सम्पत्ति का प्राप्त होना
५ जिज्ञासा--जानने की तीव्र उत्कण्ठा रखना,
६ तज्ज्ञ सेवा--ज्ञानी पुरुषों की सेवा करना,
७ तज्ज्ञ-अनुग्रह--ज्ञानी जनों की कृपा पाना
ये सदनुष्ठान के लक्षण है।

[१२४]

बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि सर्वाण्येवेह देहिनाम् ।
संसारफलदान्येव विपाकविरसत्वतः ॥

यहाँ संसार में सामान्यतः प्राणियों के सभी कर्म बुद्धि--इन्द्रियजनित बोध द्वारा होते हैं। विषयप्रधान वे विपाकविरस--परिणाम में नीरस--असुखद है। उनका फल संसार--जन्म मरण के चक्र में भटकना है।

[१२५]

ज्ञानपूर्वाणि तान्येव मुक्त्यङ्गं कुलयोगिनाम् ।
श्रुतशक्तिसमावेशादनुबन्धफलत्वतः ॥

ज्ञानपूर्वक किये गये वे ही कर्म कुलयोगियों के लिए मुक्ति के अंग हैं। आप्त वचन रूप शास्त्रशक्ति--आगम ज्ञान की शक्तिमत्ता के समावेश के कारण वे शुभ फलप्रद सिद्ध होते हैं।

[१२६]

असमोहसमुत्थानि त्वेकान्तपरिशुद्धित ।
निर्वाणफलदायाशु भवातीतार्थयायिनाम ॥

असमोह स निष्पन्न होने वाले—किये जाने वाले वे ही कर्म एकान्तरूप स परिशुद्ध—अत्यन्त शुद्ध होने के कारण ससार स अतीत पदार्थ—परम पद परम तत्त्व का साक्षात्कार करने को समुद्यत—परम तत्त्ववेदी जनो के लिए मोक्षरूप फल देने वाले होते हैं।

[१२७]

प्राकृतेष्विह भावेषु येषां चेतो निरुत्सुकम ।
भवभोगविरक्तास्ते भवातीतार्थयायिन ॥

प्राकृत भावो—शब्द, रूप रस आदि सासारिक विषयो म जिनका चित्त उत्सुकता रहित है उदासीन है जो सासारिक भोगो स विरक्त है व भवातीतार्थयायी—ससारातीत अर्थगामी—परम तत्त्ववेदी कहे जाते ह।

[१२८]

एक एव तु मार्गोऽपि तेषा शमपरायण ।
अवस्थाभेदभेदेऽपि जलधौ तीरमार्गवत ॥

अवस्था भेद के बावजूद उनका शम—निष्पाप आत्मपरिणति प्रधान मार्ग या साम्यप्रधान मार्ग एक ही है। जसे समुद्र में मिलने वाले सभी मार्ग तटमार्ग हैं भिन्न भिन्न दिशाओ से आने के बावजूद उनका उद्दिष्ट एक ही है या व एकरूपता लिये हुए हैं।

[१२९]

ससारातीततत्त्व तु पर निर्वाणसञ्ज्ञितम ।
तद्ध्येकमेव नियमाच्छब्दभेदेऽपि तत्त्वत ॥

संसार से अतीत परम तत्त्व निर्वाण कहा जाता है। शाब्दिक भेद होते हुए भी वह तात्त्विक दृष्टि म निश्चित रूप स एक ही है।

[१३०]

सदाशिव पर ब्रह्म सिद्धात्मा तथातेति च ।
शब्दैस्तदुच्यतेऽन्वर्थादेकमेवैवमादिभि ॥

सदाशिव, पर ब्रह्म सिद्धात्मा तथाता आदि शब्दों द्वारा उसका कथन किया जाता है पर तात्पर्य की दृष्टि से वह एक ही है। सदाशिव—सब समय कल्याणरूप—मंगलरूप, पर ब्रह्म—आत्मगुणों के अत्यन्त वृद्धिगत परम विकास के कारण महाविराट, सिद्धात्मा—विशुद्ध आत्म सिद्धि प्राप्त एव तथाता—सदा एक जैसे शुद्ध स्वरूप में सुस्थित—या यथावत उसमें कोई भेदात्मकता नहीं है।

[१३१]

तल्लक्षणाविसंवादान्निराबाधमनामयम् ।
निष्क्रियं च परं तत्त्वं यतो जन्माद्ययोगत ॥

विभिन्न नामों से कथित परम तत्त्व का यही लक्षण है जो निर्द्वन्द्व है अर्थात वे एक ही है। वह परमतत्त्व निराबाध—सब बाधाओं से रहित—अव्याबाध, निरामय—शरीरहीन होने के कारण द्रव्यरोगों से रहित तथा अत्यन्त विशुद्ध आत्मस्वरूप में अवस्थित होने के कारण राग द्वेष मोह काम, क्रोध आदि भाव रोगों से रहित—परम स्वस्थ निष्क्रिय—सब कर्मों का कर्म-हेतुओं का निःशेष रूप में नाश हो जाने के कारण सर्वथा क्रियारहित—कृतकृत्य है। जन्म मृत्यु आदि का वहाँ सर्वथा अभाव है।

[१३२]

ज्ञाते निर्वाणतत्त्वेऽस्मिन्नसम्मोहेन तत्त्वत ।
प्रेक्षावतां न तद्भक्तौ विवाद उपपद्यते ॥

इस निर्वाण तत्त्व को असम्मोह द्वारा सर्वथा जान लेने पर विचार शील विवेकशील पुरुषों के लिए उसकी आराधना में कोई विवाद घटित नहीं होता।

[१३३]

सर्वज्ञपूर्वकं चैतन्नियमादेव यन्मतम् ।
आसन्नो ह्यस्यमुख्यस्य तद्भेदस्ततः कथम् ॥

निर्वाण नियमतः सर्वज्ञपूर्वक है—सर्वज्ञता प्राप्त किए बिना निर्वाण नहीं सधता। यों सर्वज्ञता का निर्वाण के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में सर्वज्ञता निर्वाण से पूर्ववर्ती अविनाभावी स्थिति है। निर्वाण का सन्निकटवर्ती यह सर्वज्ञत्व मार्ग बिलकुल सरल—सीधा है। फिर उसमें भेद कैसे हो ?

[१३४]

चित्रा तु देशनैतेषां स्याद्विनेयानुगुण्यतः ।
यस्मादेते महात्मानो भवव्याधिभिषग्वराः ॥

सर्वज्ञों की भिन्न-भिन्न प्रकार की देशना—धर्मोपदेश शिष्यों की अनुकूलता के सबब है। क्योंकि ये महापुरुष संसार रूप व्याधि को मिटाने वाले वैद्य हैं। अतः शिष्यों के जीवन परिष्कार हेतु उन्हें भावात्मक दृष्टि से नीरोग बनाने के लिए जैसा अपेक्षित हो, धर्मोपदेश करते हैं उन्हें समझाने का प्रयास करते हैं।

[१३५]

यस्य येन प्रकारेण बीजाधानादिसम्भवः ।
सानुबन्धो भवत्येते तथा तस्य जगुस्ततः ॥

जिस प्रकार किसी विशेष पौधे को उगाने के लिए भूमि में एक विशेष प्रकार की खाद देनी होती है उसी प्रकार जिस शिष्य की चित्तभूमि में सम्यक् बोध रूप बीज का जिस प्रकार उत्तरोत्तर विकासोन्मुख रोपण, संवर्धन आदि हो, वे उसी प्रकार का उपदेश देते हैं।

[१३६]

एकापि देशनैतेषां यद्वा श्रोतृविभेदतः ।
अचिन्त्यपुण्यसामर्थ्यात्तथा चित्रावभासते ॥

अथवा सर्वज्ञ की देशना एक होते हुए भी अपनी अचिन्त्य—अ सोचा तक नहीं जा सकता (ऐसे) असाधारण पुण्य सामर्थ्य के कारण भिन्न भिन्न श्रोताओं को भिन्न भिन्न प्रकार की अवभासित—प्रतीत होती है।

[१३७]

यथाभव्यं च सर्वेषामुपकारोऽपि तत्वतः ।
जायतेऽवन्ध्यताऽप्येवमस्याः सर्वत्र सुस्थिता ॥

यों भिन्न भिन्न रूप में अवभासित होती हुई सर्वज्ञ देशना से सब श्रोताओं का अपने भव्यत्व के अनुरूप उपकार होता है। इससे उस (देशना) की सार्वत्रिक अनिष्फलता—सफलता सिद्ध होती है।

[१३८]

यद्वा तत्तन्नयापेक्षा तत्कालादिनियोगतः ।
ऋषिभ्यो देशना चित्रा तन्मूलैषाऽपि तत्त्वतः ॥

अथवा द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक आदि नयों की अपेक्षा से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि के कारण भिन्न भिन्न प्रकार की देशना ऋषियों द्वारा प्रवृत्त हुई। पर वस्तुतः उनके मूल में सर्वज्ञ देशना ही है। अर्थात् विभिन्न अपेक्षाओं से ऋषियों ने लोकोपकार की भावना से एक ही तत्त्व का भिन्न भिन्न रूप में व्याख्यात किया। इससे तत्त्व में तत्त्व देशना में भिन्नता नहीं आती केवल निरूपण की शैली में भिन्नता है।

[१३९]

तदभिप्रायमज्ञात्वा न ततोऽर्वाग्दृशां सताम् ।
युज्यते तत्प्रतिक्षेपो महानर्थकरः परः ॥

उन (सर्वज्ञों) के अभिप्राय को (सर्वथा) न जानते हुए उनकी देशना का प्रतिक्षेप—विरोध करना अर्वाग्दृक्—छद्मस्थ—असर्वज्ञ जनों के लिए उचित नहीं है। वैसा करना महाअनर्थकारी है।

[१४०]

निशानाथप्रतिक्षेपो यथान्धानामसंगतः ।
तद्भेदपरिकल्पश्च तथैवार्वाग्दृशामयम् ॥

अन्धे यदि चन्द्र का निषेध करें—उसका अस्तित्व स्वीकार न करें थवा उसमें भेद परिकल्पना करें—उसे अनेक प्रकार का—बांका टेढा तुष्कोण गोल आदि बताएँ तो यह असगत है। उसी प्रकार छद्मस्थ वज्ञ का निषेध करें उनमे भेद-कल्पना करें यह अयुक्तियुक्त है।

[१४१]

न युज्यते प्रतिक्षेप सामान्यस्यापि तत्सताम ।
आर्यापवादस्तु पुनर्जिह्वाछेदाधिको मत ॥

सत्पुरुषा के लिए सामान्य व्यक्ति का भी विरोध खण्डन या प्रतिकार रना उपयुक्त नहीं है श्रद्धास्पद सवज्ञ का अपवाद करना विरोध करना, तिकार करना तो उन्हें जिह्वाच्छेद से भी अधिक कष्टकर प्रतीत होता है।

[१४२]

कुदृष्ट्यादिवन्नो सन्तो भाषन्ते प्रायश क्वचित ।
निश्चित सारवच्चैव किन्तु सत्वार्थकृत सदा ॥

सत्पुरुष असदृष्टि आदि अवगुण युक्त लोगो की तरह कहीं कुत्सित वचन नहीं बोलते। वे निश्चित—सन्देहरहित सारयुक्त तथा प्राणियो के लिए हितकर वचन बोलते है।

[१४३]

निश्चयोऽतीन्द्रियार्थस्य योगिज्ञानादृते न च ।
अतोऽप्यत्राधक पाना विवादेन न किंचन ॥

सर्वज्ञ आदि इन्द्रियातीत पदार्थ का निश्चय योगिज्ञान—योग द्वारा लब्ध साक्षात् ज्ञान के बिना नहीं होता। इसलिए सर्वज्ञ के विषय में अन्धा जैसे छद्मस्थ जनो के विवाद से क्या प्रयोजन सधे ?

[१४४]

न चानुमानविषय एषोऽर्थस्तत्त्वतो मत ।
न चातो निश्चय सम्यगन्यत्राप्याह धीधन ॥

यह (गम्यमान अर्थ) तत्त्व अनुमाता का विषय भी नहीं माना गया है। यह तो अतीन्द्रिय विषय है सामान्य विषय में भी अनुमान से सम्यक्—यथार्थ निश्चय नहीं हो पाता। परम मेधावी (भर्तृहरि) ने भी कहा है।

[१४५]

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥

(भर्तृहरि का कथन) अनुमाताओं—अनुमानकर्ताओं द्वारा यत्नपूर्वक—युक्तिपूर्वक अनुमित—अनुमान द्वारा सिद्ध किये हुए अर्थ को भी दूसरे प्रबल युक्तिशाली—प्रखर तार्किक अनुमाता दूसरे प्रकार से सिद्ध कर डालते हैं।

[१४६]

ज्ञायेरन् हेतुवादेन पदार्था यद्यतीन्द्रियाः ।
कालेनैतावता प्राज्ञैः कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥

यदि युक्तिवाद द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होता तो बुद्धिशाली तार्किकजन इतने दीर्घकाल में उन (अतीन्द्रिय पदार्थों) के सम्बन्ध में अवश्य निश्चय कर पाते। पर आज तक ऐसा हो नहीं पाया। अनादि काल से आज भी उन विषयों में वाद विवाद खण्डन मण्डन उसी तीव्रता से चलता है।

[१४७]

न चैतदेवं यत्तस्माच्छुष्कतर्कग्रहो महान् ।
मिथ्याभिमानहेतुत्वात्त्याज्य एव मुमुक्षुभिः ॥

इस सन्दर्भ में ऐसी स्थिति नहीं है अर्थात् युक्तिवाद या हेतुवाद द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों का निश्चय नहीं हो पाता। अतः मोक्षार्थियों के लिए विस्तीर्ण शुष्क तर्क ग्रह—नीरस या सारहीन तर्क की पकड़ अथवा विकराल तर्क रूपी अनिष्ट ग्रह या प्रेत या मगरमच्छ छोड़ने योग्य है। क्योंकि वह मिथ्या अभिमान का हेतु है।

[१४८]

ग्रह सर्वत्र तत्त्वेन मुमुक्षूणामसङ्गतः ।
मुक्तौ धर्मा अपि प्रायस्त्यक्तव्याः किमनेन तत् ॥

मोक्षाभिलाषी को वास्तव में कहीं भी ग्रह—पकड़ रखना असंगत है—समुचित नहीं है। मुक्तावस्था में तो प्रायः क्षायोपशमिक धर्म भी—कर्मों के क्षय और उपशम से निष्पन्न क्षमा, शील आदि धर्म भी छोड़ने पड़ते हैं। वहाँ तो शुद्ध आत्मस्वभाव मूलक क्षायिक धर्मों की ही अवस्थिति होती है। फिर तुच्छ अनिष्ट ग्रह की तो बात ही क्या!

[१४९]

तदत्र महतां वर्त्म समाश्रित्य विचक्षणः ।
वर्तितव्यं यथान्यायं तदतिक्रमवर्जितम् ॥

सुयोग्य आत्मार्थी पुरुषों को चाहिए वे महापुरुषों के पथ का—जिस पर महापुरुष चलते रहे हैं, जिसका महापुरुषों ने निर्देश किया है उस मार्ग का अवलम्बन कर यथाविधि उस पर गतिमान् रहें, उसका उल्लंघन न करें, उसके विपरीत न चलें।

[१५०]

परपीडेह सूक्ष्माऽपि वर्जनीया प्रयत्नतः ।
तद्वत्तदुपकारेऽपि यतितव्यं सदैव हि ॥

महापुरुषों का मार्ग है—

साधक का यह प्रयास रहे कि उसकी ओर से किसी को जरा भी पीड़ा न पहुँचे। उसी प्रकार उसे सदा दूसरों का उपकार करने का भी प्रयत्न करते रहना चाहिए।

[१५१]

गुरवो देवता विप्रा यतयश्च तपोधनाः ।
पूजनीया महात्मानः सुप्रयत्नेन चेतसा ॥

गुरु देवता ब्राह्मण—ब्रह्मवेत्ता तथा तपस्वी साधु—ये सत्पुरुष प्रसन्न मुक्त चित्त से—तन्मयता तथा श्रद्धापूर्वक पूजनीय—सम्मान करने योग्य—सत्कार करने योग्य है।

[१५२]

पापवत्स्वपि चात्यन्तं स्वकर्मनिहतेष्वलम् ।
अनुकम्पैव सत्त्वेषु न्याय्या धर्मोऽयमुत्तमः ॥

मुमुक्षु पुरुषों में सभी प्राणियों के प्रति अनुकम्पा या दया का भाव रहे यह तो है ही पर अपने कृत्सित कर्मों द्वारा निन्द्य—अत्यन्त पतित पापी प्राणियों के प्रति भी वे अनुकम्पाशील रहें यह न्यायोचित—अपेक्षित है।

यों पर पीडावर्जन परोपकारपरायणता गुरु देव ब्राह्मण—ब्रह्मवेत्ता तथा यतिजन का सम्मान पापी जीवों पर भी अनुकम्पा भाव—साधक द्वारा जीवन में इनका क्रियान्वयन उत्तम धर्म है।

[१५३]

कृतमत्र प्रसङ्गेन प्रकृतं प्रस्तुमोऽधुना ।
तत्पुनः पञ्चमी तावद्योगदृष्टिर्महोदया ॥

प्रसंगवश ऊपर जो कहा गया है वह पर्याप्त है। अब मूलतः वस्तु विषय को प्रस्तुत करते हैं। वह (चालू विषय) पाँचवीं स्थिरा दृष्टि है, जो आत्मा के महान उदय—परम उत्थान से सम्बद्ध है।

स्थिरा दृष्टि

[१५४]

स्थिरायां दर्शनं नित्यं प्रत्याहारवदेव च ।
कृतमभ्रान्तमनघं सूक्ष्मबोधसमन्वितम् ॥

स्थिरा-दृष्टि में दर्शन नित्य—अप्रतिपाती—नहीं गिरने वाला होता है प्रत्याहार—स्व-स्व विषयों के सम्बन्ध में विरत होकर इन्द्रियों का चित्त

स्वरूपानुकार[1] सधता है तथा साधक द्वारा किये जाने कृत्य—क्रियाकलाप भ्रान्ति रहित निर्दोष एवं सूक्ष्मबोध युक्त होते हैं।

स्थिरा-दृष्टि दो प्रकार की मानी गयी है—निरतिचार एवं सातिचार। निरतिचार दृष्टि अतिचार दोष या विघ्न वर्जित होता है। उसमें होने वाला दर्शन नित्य—प्रतिपात रहित होता है एक सा अवस्थित रहता है। सातिचार दृष्टि अतिचार सहित होती है, अतः उसमें होने वाला दर्शन अनित्य—न्यूनाधिक होता है एक सा अवस्थित नहीं रहता।

स्थिरा दृष्टि को रत्नप्रभा की उपमा दी गई है। निर्मल रत्नप्रभा—रत्नज्योति जैसे एक सी देदीप्यमान रहती है उसी प्रकार निरतिचार स्थिरा दृष्टि में दर्शन अनवच्छिन्न निराबाध या सतत दीप्तिमय रहता है। रत्न पर यदि मल आदि लगा होता है तो उसकी चमक बीच-बीच में रुकती रहती है एक सी नहीं रहती न्यूनाधिक होती रहती है सातिचार स्थिरा दृष्टि की वैसी ही स्थिति है। अतिचार या किञ्चित दूषितपन के कारण दर्शन में कुछ कुछ व्याघात होता रहता है। ऐसा होते हुए भी जैसे मलयुक्त रत्न की प्रभा मूलतः मिटती नहीं उसकी मौलिक स्थिरता विद्यमान रहती है उसी तरह सातिचार स्थिरा-दृष्टि में जो रुकावट या दर्शन ज्योति की न्यूनाधिकता होती है वह कादाचित्क है। मूलतः इस (स्थिरा) दृष्टि की दर्शनगत स्थिरता व्याहत नहीं होती।

[१५५]

बालधूलीगृहक्रीडा तुल्यास्याभाति धीमताम् ।
तमोग्रन्थिविभेदेन भवचेष्टाऽखिलैव हि ॥

इस (पाँचवीं स्थिरा) दृष्टि को प्राप्त सम्यग्दृष्टि पुरुष के अनानाद्य कारमय ग्रन्थि का विभेद हो जाता है—बाँस की गाँठ जैसी कठोर कर्कश, सघन तथा गूढ़ तमोग्रन्थि इसमें टूट जाती है अतः प्रज्ञाशील साधकों को

---

१ स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।

—पातञ्जल योग सूत्र २.५४

समग्र सांसारिक चेष्टा—क्रिया प्रक्रिया बालकों द्वारा खेल में बनाये जाते घर जैसी प्रतीत होती है। बालक खेल में मिट्टी के घरों को बनाते हैं, फिर थोड़ी देर में वे छिन्न भिन्न कर देते हैं, उसी तरह सम्यग्दृष्टि प्रबुद्ध जनों को संसार की क्षणभंगुरता, अस्थिरता प्रतीत होने लगती है। उसमें वे आसक्त नहीं होते।

[१५६]

मायामरीचिगन्धर्वनगरस्वप्नसन्निभान् ।
बाह्यान् पश्यति तत्त्वेन भावान् श्रुतविवेकतः ॥

इस स्थिति को प्राप्त योगी जिसका शास्त्रप्रसूत विवेक जागृत होता है देह घर परिवार धन आदि बाह्य भावों को मृगतृष्णा, गन्धर्व नगर—इन्द्रजालिक द्वारा मायाजाल के सहारे आकाश में प्रदर्शित नगर तथा दृष्ट स्वप्न—जो सर्वथा मिथ्या एवं कल्पित हैं जैसा देखता है। उसे सांसारिक भावों की अयथार्थता का सत्य दर्शन—सम्यक् बोध हो जाता है।

[१५७]

अबाह्यं केवलं ज्योतिर्निराबाधमनामयम् ।
यदत्र तत्परं तत्त्वं शेषः पुनरुपप्लवः ॥

इस जगत् में परम—सर्वोत्तम तत्त्व अन्तरतम में देदीप्यमान ज्ञान रूप ज्योति ही है जो निराबाध—बाधा, पीड़ा या विघ्न रहित तथा अनामय—रोग रहित—दोष रहित या भावात्मक नीरोगता युक्त है। उसके अतिरिक्त बाकी सब उपप्लव—संकट, आपत्ति, विघ्न या भय है।

[१५८]

एवं विवेकिनो धीराः प्रत्याहारपरायणाः ।
धर्मबाधापरित्यागयत्नवन्तश्च तत्त्वतः ॥

इस प्रकार स्व-पर भेद ज्ञान प्राप्त विवेकी धीर पुरुष प्रत्याहार परायण होते हैं और वे धर्मबाधा—धर्माराधना में आने वाली बाधाओं के परित्याग में प्रयत्नशील रहते हैं।

[१५६]

न ह्यलक्ष्मीसखी लक्ष्मीयथानन्दाय धीमताम ।
तथा पापसखा लोके देहिनां भोगविस्तर ॥

जसे बद्धिमान्—विवेकशील पुरुषों के लिए अलक्ष्मी की सहेली लक्ष्मी—वह लक्ष्मी, जिसके साथ अलक्ष्मी रहती है अथवा वह लक्ष्मी जिसका परिणति अलक्ष्मी म होता है आनन्दप्रद नही होती—वे उस कभी आनन्दायक नही मानते क्योंकि उसके साथ दुःख जो जुडा है। इसी तरह भोग विस्तार जो पाप का मित्र है जिसके साथ पाप लगा है, जिसकी फल निष्पत्ति पाप म है प्राणियो के लिए आनन्दप्रद नही होता।

[१६०]

धर्मादपि भवन भोग प्रायोऽनर्थाय देहिनाम ।
चन्दनादपि सम्भूतो दहत्येव हुताशन ॥

धम म भी उत्पन्न भोग प्राणियो के लिए प्राय अनथकर हा होता है। जस चन्दन म भी उत्पन्न अग्नि जलाती हा है।

[१६१]

भोगात्तदिच्छाविरति स्कन्धभारापनुत्तये ।
स्कन्धान्तरसमारोपस्तत्संस्कारविधानत ॥

भोगो को छककर भोग लेने से स्वय इच्छा मिट जायेगी, यह सोचना वैसा ही है जसा किसी भारवाहक द्वारा अपने एक कन्धे पर से भार का दूसरे कन्धे पर रखा जाना।

वस्तुस्थिति यह है, भोग भोगने स इच्छा विरत नहीं होती क्योंकि एक भोग भोगने के बाद दूसरे प्रकार के भोग म इच्छा जुड जाती है व्यक्ति उसम लग जाता है उसके अनन्तर किसी तीसरी म फिर चौथी म—यों भोगक्रम चलता ही रहता है। जिस प्रकार भारवाहक के एक कन्धे का भार दूसरे पर चला जाता है मूलत भार तो जाता नहीं वैसी ही बात भोगो के साथ है। उसकी भोग वाञ्छा मिटती नहीं अनवरत भोगलिप्सा बनी रहती है क्योंकि उसके भौगिक संस्कार विद्यमान है, वासना छूटी नहीं।

कान्ता दृष्टि

[१६२]

कान्तायामेतदन्येषां प्रीतये धारणा परा ।
अतोऽत्र नान्यमुन्नित्यं मीमांसाऽस्ति हितोदय ॥

कान्ता दृष्टि में पूर्व वर्णित नित्य-दर्शन—अविच्छिन्न सम्यग्दर्शन आदि विद्यमान रहते हैं। इस दृष्टि में स्थित योगी के व्यक्तित्व में एक ऐसा वैशिष्ट्य आ जाता है कि उसके सम्यग्दर्शन आदि सद्गुण औरों के लिए सहजतया प्रीतिकर होते हैं। औरों के मन में उनके द्विष्ट भाव नहीं आता। प्रीति उमडती है।

यहाँ योगी के धारणा—नामक छठा योगांग, जिसका तात्पर्य चित्त को नाभिचक्र, हृत्पद्म, मस्तक आदि शरीर के आभ्यन्तर या सूर्य, चन्द्र आदि बाह्य स्थान में लगाना है[1], सधता है। यों धारणानिष्ठ हो जाने पर योगी का अध्यात्म—आत्मरमण के अतिरिक्त अन्य विषयों में मन या हृदय नहीं जाता—उसका मन भी उनमें रस नहीं लेता।

शुभ बोध उसे पूर्वतन दृष्टि में प्राप्त हो चुका होता है, वह इसमें चिन्तन, मनन, निदिध्यासनामूलक मीमांसा करता है, सद्विचारणा में लगा रहता है, जिसकी फलनिष्पत्ति आत्मा के उत्कर्ष में होती है।

इस दृष्टि का नाम कान्ता अनेक अपेक्षाओं से संगत है। कान्ता का एक अर्थ पतिव्रता नारी है। पतिव्रता नारी घर के सभी कार्य करती है पर उसका मन प्रियतम अपने पति में रहता है। उसी प्रकार इस दृष्टि में स्थित योगी का चित्त यद्यपि सांसारिक कार्य करते हुए भी धर्म में—अध्यात्म में लगा रहता है। अथवा इस दृष्टि में स्थित योगी सभी को बड़ा कान्त—प्रिय लगता है, इसलिए इसे कान्ता कहा जाना उपयुक्त है। अथवा यह दृष्टि योगीजनों को बड़ी कान्त—प्रीतिकर—प्रिय है अतः कान्ता नाम से अभिहित किया गया है।

---

१ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।

—पातञ्जल योगसूत्र

[१६३]

अस्या तु धर्ममाहात्म्यात समाचारविशुद्धित ।
प्रियो भवति भूतानां धर्मैकाग्रमनास्तथा ॥

इस दृष्टि में संस्थित योगी धर्म की महिमा तथा सम्यक् आचार की विशुद्धि के कारण सब प्राणियों का प्रिय होता है—सब जीवों को वह प्रीतिकर प्रतीत होता है। उसका मन धर्म में एकाग्र—तन्मय हो जाता है।

[१६४]

श्रुतधर्मे मनो नित्य कायस्त्वस्यान्यचेष्टिते ।
अतस्त्वाक्षेपकज्ञानान्न भोगा भवहेतव ॥

इस दृष्टि वाला योगी आत्मधर्म की इतनी दृढ भावना लिए होता है कि चाहे वह शरीर से अन्यान्य कार्यों में लगा हो पर उसका मन सदा सद्गुरुजन से सुने हुए सीखे हुए आगम में तल्लीन रहता है। उस योगी का आत्मपरक—सहज स्वभाव की ओर आकृष्ट करने वाले ज्ञान से युक्त होता है—एक ऐसी दिव्य अन्तरनुभूति उसे रहती है जिससे अनुप्राणित होता हुआ वह सतत सहजावस्था—आत्मभाव की ओर खिंचा रहता है। अत अनासक्त भाव से भोग जाते सांसारिक भोग उसके लिए भवहेतु—संसार के कारण—जन्म मरण के चक्र में भटकाने वाले नहीं होते।

[१६५]

मायाम्भस्तत्त्वत पश्यन्ननुद्विग्नस्ततो द्रुतम ।
तन्मध्येन प्रयात्येव यथा व्याघातवर्जित ॥

जो पुरुष मृगमरीचिका के जल को वस्तुत जानता है—उसके मिथ्या कल्पित अस्तित्व को समझता है वह जरा भी उद्विग्न हुए बिना—घबराए बिना निर्विघ्नतया उसके बीच से चला जाता है। अर्थात जल तो वहाँ है नहीं केवल भ्रम है। जो उसको यथार्थता समझ लेता है वह भ्रान्त नहीं होता और भयभीत भी नहीं होता। भय का कोई कारण भी तो वहाँ नहीं है। भय तो केवल भ्रान्तिजन्य है।

इस दृष्टि में संस्थित साधक तत्त्वचिन्तन, तत्त्वमीमांसा में निरन्तर लगा रहता है। इसलिए वह मोह-व्याप्त नहीं होता, मूढ़, मोहमूढ़ नहीं बनता। तत्त्व समावेश—तत्त्वज्ञान—यथार्थ अवबोध के प्राप्त हो जाने के कारण सन्त उत्तरोत्तर उसका हित—श्रेयस् सधता जाता है।

प्रभा-दृष्टि

[१७०]

ध्यानप्रिया प्रभा प्रायो नास्यां रुगत्र एव हि ।
तत्त्वप्रतिपत्तियुता सत्प्रवृत्तिपदावहा ॥

प्रभा दृष्टि प्रायश: ध्यानप्रिय है। इसमें संस्थित योगी प्राय: ध्यान निरत रहता है अर्थात् इसमें योग का सातवाँ अंग ध्यान—ध्येय में प्रत्यय एकतानता[१]—चित्तवृत्ति का एकाग्र भाव सधता है। राग द्वेष मोह रूप त्रिदोष जय मात्र रोग यहाँ बाधा नहीं देते। दूसरे शब्दों में राग-द्वेष मोहात्मक प्रवृत्ति जो आत्मिक स्वस्थता में बाधक होती है यहाँ उभार नहीं पाती। तत्त्व मीमांसक योगी यहाँ ऐसी स्थिति पा लेता है जिसमें उसे तत्त्वानुभूति प्राप्त होती है। सहजतया सत्प्रवृत्ति की ओर उसका झुकाव रहता है।

[१७१]

ध्यानजं सुखमस्यां तु जितमन्मथसाधनम् ।
विवेकबलनिर्जातं शमसारं सदैव हि ॥

इस दृष्टि में ध्यानजनित सुख अनुभूत होता है जो काम के साधना—रूप, शब्द, स्पर्श आदि विषयों को जीतने वाला है। वह ध्यान—प्रसूत सुख विवेक के बल—उदग्रता—तीव्रता से उद्भूत होता है। उसमें प्रशान्त भाव की प्रधानता रहती है।

---

१ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

—पातञ्जल योगसूत्र ३.२

[१७२]

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतदुक्तं समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥

परवशता—परतन्त्रता में सर्वथा दुःख है तथा आत्मवशता—अन्तन्त्रता—स्वतन्त्रता में सर्वथा सुख है। संक्षेप में यह सुख तथा दुःख का लक्षण है।

[१७३]

पुण्यापेक्षमपि ह्येवं सुखं परवशं स्थितम् ।
ततश्च दुःखमेवैतत्तल्लक्षणनियोगतः ॥

पुण्य की अपेक्षा रखने वाला—पुण्योदय से होने वाला सुख भी परतन्त्र है। पुण्य शुभकर्म पुद्गलात्मक है आत्मा से भिन्न है, पर है। उस पर आश्रित सुख सर्वथा परवशता लिये हुए होता है। वास्तव में वह दुःख है क्योंकि दुःख का लक्षण परवशता है।

पुण्य भी बन्धन है। पाप लोहे की बेड़ी है, पुण्य सोने की। बेड़ी चाहे लोहे की हो या सोने की है तो बेड़ी ही। बाँध रखने के कारण दोनों ही कष्टप्रद हैं। इसके अतिरिक्त इतना और समझने योग्य है जब तक पुण्य का संयोग है पुण्यबन्ध है संसार बन्धन चालू रहता है वस्तुतः वह दुःखमय है।

[१७४]

ध्यानं च निर्मले बोधे सदैव हि महात्मनाम् ।
क्षीणावरणमलं हेम सदा कल्याणमेव हि ॥

बोध के निर्मल होने पर महान् साधकों के सदैव ध्यान सधता रहता है। जिस सोने का मल निराकृत किया गया हो वह सोना सदा कल्याण—विशुद्धि लिए होता है। कहीं-कहीं नाम में भी उसे कल्याण कहा है।

[१७५]

सत्प्रवृत्तिपद चेहासङ्गानुष्ठानसञ्ज्ञितम् ।
महापथप्रयाण यदनागामि पदावहम् ॥

पीछे जो सत प्रवृत्ति पद कहा गया है उसकी असगानुष्ठान सज्ञा है। अनुष्ठान चार प्रकार का माना गया है—१ प्रीति अनुष्ठान २ भक्ति अनुष्ठान ३ वचन अनुष्ठान तथा ४ असग-अनुष्ठान। समग्र प्रकार के सग—आसक्तता या संस्पर्श रहित विशुद्ध आत्मानुचरण असगानुष्ठान है। इसे अनालम्बन योग भी कहा जाता है जो सगत्याग पर आधृत है। असगानुष्ठान महापथप्रयाण—अध्यात्म साधना के महान उपक्रम मे गतिशीलता का सयोजक है। यह अनागामि पद—अपुनरावर्तन—जन्म मरण से रहित शाश्वत पद प्राप्त कराने वाला है।

[१७६]

प्रशान्तवाहितासंज्ञ विसभागपरिक्षय ।
शिववर्त्म ध्रुवाध्वेति योगिभिर्गीयते ह्यद ॥

योगीजन असगानुष्ठान पद को विभिन्न नामो से आख्यात करते हैं। इसे सांख्य दर्शन मे प्रशान्तवाहिता बौद्ध दर्शन मे विसभागपरिक्षय तथा शैव दर्शन मे शिववर्त्म कहा गया है। कोई उसे ध्रुव मार्ग भी कहते हैं।

[१७७]

एतत् प्रसाधयत्याशु यद्योगस्यां प्रवस्थित ।
एतत्पदावहैषैव तत्तत्तद्विदा मता ॥

इस दृष्टि मे सस्थित योगी असगानुष्ठान को शीघ्र साध लेता है। अत असगानुष्ठानपद—परम वीतराग भावरूप स्थिति को प्राप्त कराने वाली यह दृष्टि इस तथ्य के वेत्ता योगीजनो को इष्ट या अभीप्सित है।

परा दृष्टि

[१७८]

समाधिनिष्ठा तु परा तदासगविवर्जिता ।
सात्मीकृतप्रवृत्तिश्च तदुत्तीर्णाशयेति च ॥

आठवीं परा दृष्टि समाधिनिष्ठ होती है—यहाँ आठवाँ योगाङ्ग समाधि[1]—चित्त का ध्येयाकार में परिणत हो जाना है। इसमें आसंग दोष—किसी तरह की योग क्रिया में आसक्ति रूप दूषण नहीं रहता। इसमें शुद्ध आत्म-तत्त्व आत्म स्वरूप जिस प्रकार अनुभूति में आता, वैसी प्रवृत्ति आचरण या चारित्र सहज रूप में गतिमान् रहता है। इसमें चित्त उत्तम, सत्-प्रवृत्ति से उत्तीर्ण—ऊँचा उठा हुआ हो जाता है। चित्त में कोई प्रवृत्ति करने की वासना नहीं रहता।

[१७९]

निराचारपदो ह्यस्यामतिचारविवर्जितः ।
आरूढारोहणाभावगतिवत्त्वस्य चेष्टितम् ॥

इस दृष्टि में योगी निराचार पद युक्त होता है—किसी आचार के अनुसरण का प्रयोजन वहाँ रह नहीं जाता। वह अतिचारों से विवर्जित होता है—कोई अतिचार या दोष लगने का कारण उसके नहीं होता। जो पहुँचने योग्य मंजिल पर चढ़ चुका हो, उसे और आगे चढ़ने की आवश्यकता नहीं रहता। अतः आगे चलने का अभाव हो जाता है। वैसी ही स्थिति यहाँ स्थित योगी की होती है। उसके लिए किसी आचार का परिपालन अपेक्षित नहीं रहता। वह वैसी स्थिति से ऊँचा उठ चुकता है।

[१८०]

रत्नादिशिक्षादृग्भ्यो या यथा दृक् तन्नियोजने ।
तथाचारक्रिया प्यस्य सैवान्या फलभेदतः ॥

रत्न आदि के सम्बन्ध में शिक्षा लेते समय शिक्षार्थी की जो दृष्टि होती है, शिक्षा ले चुकने पर, उस विद्या या कला में निष्णात हो जाने पर रत्न आदि के नियोजन—क्रय विक्रय आदि प्रयोग में उसकी दृष्टि उससे सर्वथा भिन्न होती है। क्योंकि उसकी दोनों स्थितियों में अन्तर है। शिक्षाकाल में वह जिज्ञासु था, उसे जानने की, अपना ज्ञान बढ़ाने की

---

१ तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।

—पातञ्जल योगसूत्र ३.३

उत्सुकता थी। नियोजन-काल म वह उस स्थिति म ऊँचा उठा हुआ है। वहाँ वह प्राप्त ज्ञान या निपुणता का बुद्धिमत्तापूर्वक उपयोग करता है। यही स्थिति इस दृष्टि म सस्थित योगी की है। उसकी पहले की आचार क्रिया तथा अब की आचार क्रिया फलभेद की दृष्टि स सवथा भिन्न होती है।

[१८१]

तन्नियोगान्महात्मेह कृतकृत्यो यथा भवेत् ।
तथाऽय धमस यासविनियोगान्महामुनि ॥

गुणाम्य जौहरी रत्न क सदविनियोग म—लाभप्रद व्यवसाय स अपन को कृतकृत्य मानता है वस ही वह महान योगी धम म यास—शुद्ध दृष्टि म तात्त्विक आचरणमूलक नश्चयिक शुद्ध व्यवहारमय विशिष्ट याग द्वारा अपन का कृतकृत्य मानता है।

[१८२]

द्वितीयापूर्वकरणे मुख्योऽयमुपजायते ।
केवलश्रीस्ततश्चास्य नि सपत्ना सदोदया ॥

मुख्य—वास्तविक द्वितीय अपूवकरण म धम स यास निष्पन्न होता है। उसस योगी को सदा उत्कषशील—प्रतिपात रहित केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी अधिगत होता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है प्रथम अपूवकरण म ग्रन्थि भेद होता है। द्वितीय अपूवकरण म क्षपकश्रेणी प्राप्त होती है। प्रथम अपूवकरण म अनादि कालीन भवभ्रमण के मध्य जो पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ साधक म ऐसा प्रशस्त, शुभ आत्मपरिणाम उद्भूत होता है। द्वितीय अपूवकरण म साधक के परिणामों म अपूव निमलता तथा पवित्रता का सचार होता है।

[१८३]

स्थित शीतांशुवज्जीव प्रकृत्या भावशुद्धया ।
चन्द्रिकावच्च विज्ञान तदावरणमभ्रवत् ॥

उच्चावस्था प्राप्त समयसंधि सम्पन्न वीतराग प्रभु अपने अवशेष रहे चार अघाति कर्मों के उदयानुरूप इस भूतल पर विचरण करते हुए परम सार कल्याण सम्पादित कर—संसार के ताप से संतप्त लोगों को आत्मशांति प्रसार कर जन जन का महान उपकार कर योग का पर्यवसान साधते हैं—अंतत योग की चरम परम प्रसूति—शैलेशी अवस्था प्राप्त कर लेते हैं।

[१८६]

तत्र द्रागेव भगवानयोगाद्योगसत्तमात ।
भवव्याधिक्षय कृत्वा निर्वाण लभते परम ॥

वह परम पुरुष अयोग—योगरहित - मानसिक वाचिक कायिक प्रवृत्तियों के अभाव द्वारा जो योग की सर्वोत्तम दशा है शीघ्र ही संसार रूप व्याधि का क्षय कर परम निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

मुक्ततत्त्वमीमांसा —

[१८७]

व्याधिमुक्त पुमान लोके यादृशस्तादृशो ह्ययम् ।
नाभावो न च नो मुक्तो व्याधिना व्याधितो न च ॥

संसार में जैसे रोगमुक्त पुरुष होता है वैसा ही वह मुक्त पुरुष है। वह अभावरूप नहीं है सद्भावरूप है। वह व्याधि से मुक्त नहीं हुआ ऐसा नहीं है अर्थात भवव्याधि से वह मुक्त हुआ है। वह व्याधि से युक्त नहीं हुआ ऐसा भी नहीं है क्योंकि निर्वाण प्राप्त करने से पूर्व वह भवव्याधि से युक्त था।

[१८८]

भव एव महाव्याधिजन्ममृत्युविकारवान ।
विचित्रमोहजननस्तीव्ररागादिवेदन ॥

यह संसार ही घोर व्याधि है जो जन्म मरण के विकार से युक्त है अनेक प्रकार का मोह उत्पन्न करती है तथा तीव्रराग द्वेष आदि की वेदना—पीडा—संक्लेश लिये हुए है।

उच्चावस्था प्राप्त समप्रलब्धि सम्पन्न वीतराग प्रभु अपने अवशेष
हे चार अघाति कर्मों के अनुरूप इस भूतल पर विचरण करते हुए
परम लोक-कल्याण सम्पादित कर—संसार के ताप से संतप्त लोगों को
आत्मशांति प्रदान कर जन जन का महान उपकार कर योग का पर्यवसान
साध लेते हैं—अन्ततः योग की चरम फल प्रसूति—शैलेशी अवस्था प्राप्त
कर लेते हैं।

[१८६]

तत्र द्रागेव भगवानयोगाद्योगसत्तमात ।
भवव्याधिक्षयं कृत्वा निर्वाणं लभते परम ॥

वह परम पुरुष अयोग—योगरहित्य - मानसिक वाचिक कायिक
प्रवृत्तियों के अभाव द्वारा जो योग की सर्वोत्तम दशा है शीघ्र ही संसार
रूप व्याधि का क्षय कर परम निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

मुक्ततत्त्वमीमांसा —

[१८७]

व्याधिमुक्त पुमान लोके यादृशस्तादृशो ह्ययम् ।
नाभावो न च नो मुक्तो व्याधिना व्याधितो न च ॥

संसार में जैसे रोगमुक्त पुरुष होता है वैसा ही वह मुक्त पुरुष है।
वह अभावरूप नहीं है सदभावरूप है। वह व्याधि से मुक्त नहीं हुआ
ऐसा नहीं है अर्थात भवव्याधि से वह मुक्त हुआ है। वह व्याधि से युक्त
नहीं हुआ ऐसा भी नहीं है क्योंकि निर्वाण प्राप्त करने से पूर्व वह
भवव्याधि से युक्त था।

[१८८]

भव एव महाव्याधिजन्ममृत्युविकारवान ।
विचित्रमोहजननस्तीव्ररागादिवेदन ॥

यह संसार ही घोर व्याधि है जो जन्म मरण के विकार से युक्त है
अनेक प्रकार का मोह उत्पन्न करती है तथा तीव्रराग द्वेष आदि की
वेदना—पीड़ा—संक्लेश लिये हुए है।

जीव अपनी शुद्धभावात्मक प्रकृति से चन्द्र के समान स्थित है। विज्ञान—आत्मा का स्व पर प्रकाशक ज्ञान चन्द्रिका के सदृश है तथा आवरण—ज्ञानावरणादि कर्म-आवरण मेघ के समान है जो शुद्ध स्वभावमय आत्मा को आवृत्त करते हैं।

[१८४]

घातिकर्माभ्रकल्पं तदुक्तयोगानिलाहते ।
यदापैति तदा श्रीमान् जायते ज्ञानकेवली ॥

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय—ये घाति-आत्मा के मूल गुणों का घात करने वाले कर्म बादल के समान हैं। जब वे पूर्वोक्त योगरूपी वायु के आघात से हट जाते हैं तब आत्म-लक्ष्मीसमुपेत साधक ज्ञानकेवली—सर्वज्ञ हो जाता है।

[१८५]

क्षीणदोषोऽथ सर्वज्ञः सर्वलब्धिफलान्वितः ।
परं परार्थं सम्पाद्य ततो योगान्तमश्नुते ॥

अज्ञान, निद्रा, मिथ्यात्व, हास्य, अरति, रति, शोक, दुगुच्छा, भय, राग, द्वेष, अविरति, वेदोदय—काम-वासना, दानान्तराय, लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, भोगान्तराय तथा उपभोगान्तराय—इन अठारह दोषों के क्षय हो जाने से सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है।

चार घाति कर्म जो क्षीण हो चुकते हैं उनमें एक अन्तराय है जिसके क्षय से अनन्त दानलब्धि, अनन्त लाभ-लब्धि, अनन्तवीर्य-लब्धि, अनन्तभोग-लब्धि तथा अनन्त उपभोग लब्धि समुदित होती है। पर यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इन लब्धियों की सम्प्राप्ति आत्मा के क्षायिक भाव-निष्पन्न है औदयिक भाव से नहीं। अतः शुद्ध भावापन्न आत्मा परमगुरु इन लब्धियों की प्रवृत्ति पौद्गलिक दृष्टि से नहीं करते। ये लब्धियाँ आत्म स्वभावभूत हैं आत्मा के शुद्ध स्वरूप में, परमानन्द में विविध मुखी परिणमन के रूप में इनकी प्रवृत्ति या उपयोग है। ये नितान्त आध्यात्मिक हैं।

उच्चावस्था प्राप्त समग्रलब्धि सम्पन्न वीतराग प्रभु अपने अवशेष रहे चार अघाति कर्मों के उदयानुरूप इस भूतल पर विचरण करते हुए परम लोक-कल्याण सम्पादित कर—संसार के ताप से संतप्त लोगों को आत्मशांति प्रदान कर, जन जन का महान उपकार कर योग का पर्यवसान साध लेते हैं—अंतत योग की चरम फल प्रसूति—शैलेशी अवस्था प्राप्त कर लेते हैं।

[१८६]

तत्र द्रागेव भगवानयोगाद्योगसत्तमात ।
भवव्याधिक्षयं कृत्वा निर्वाणं लभते परम ॥

वह परम पुरुष अयोग—योगराहित्य - मानसिक वाचिक कायिक प्रवृत्तियों के अभाव द्वारा जो योग की सर्वोत्तम दशा है शीघ्र ही संसार रूप व्याधि का क्षय कर परम निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

मुक्ततत्वमीमांसा —

[१८७]

व्याधिमुक्त पुमान लोके यादृशस्तादृशो ह्ययम् ।
नाभावो न च नो मुक्तो व्याधिना व्याधितो न च ॥

संसार में जैसे रोगमुक्त पुरुष होता है वैसा ही यह मुक्त पुरुष है। वह अभावरूप नहीं है सद्भावरूप है। वह व्याधि से मुक्त नहीं हुआ ऐसा नहीं है अर्थात भवव्याधि से यह मुक्त हुआ है। वह व्याधि से युक्त नहीं हुआ ऐसा भी नहीं है क्योंकि निर्वाण प्राप्त करने से पूर्व वह भवव्याधि से युक्त था।

[१८८]

भव एव महाव्याधिजन्ममृत्युविकारवान ।
विचित्रमोहजननस्तीव्ररागादिवेदन ॥

यह संसार ही घोर व्याधि है जो जन्म मरण के विकार से युक्त है अनेक प्रकार का मोह उत्पन्न करती है तथा तीव्रराग द्वेष आदि की वेदना—पीड़ा—संक्लेश लिये हुए है।

अगले क्षण—भूत भविष्य में भी उसकी विद्यमानता होनी चाहिए। क्योंकि जैसा कहा गया है 'वस्तु क्षणिक है'—जो ऐसा जानता है कथन करता है वह स्वयं क्षणिक नहीं होता। उसका अपना भूत, वर्तमान, भविष्यवर्ती अस्तित्व एक ऐसा तथ्य है, जिससे क्षणिकवाद स्वयं निरस्त हो जाता है।

[१९६]

स क्षणस्थितिधर्मा चेद् द्वितीयादिक्षणे स्थितौ ।
युज्यते ह्येतदप्यस्य तथा चोक्तानतिक्रम ॥

यदि ऐसा कहा जाए, वह भाव क्षणस्थितिधर्मा है तो द्वितीय आदि क्षण में उसकी स्थिति होगी जो युक्त है। ऐसा होने में उक्त का अनतिक्रम होता है—जो कहा गया है उसका उल्लंघन—खण्डन नहीं होता।

[१९७]

क्षणस्थितौ तदैवास्य नास्थितियुक्त्यसंगते ।
पश्चादपि सेत्येव सतोऽसत्त्व व्यवस्थितम् ॥

क्षणस्थितिकता मानने पर विवक्षित क्षण में विवक्षित भाव की अस्थिति—स्थिति रहितता नहीं होती। अर्थात् उसकी स्थिति होती है। ऐसा न होने पर युक्तिसंगतता बाधित होती है। बाद में भी स्थितिराहित्य नहीं होता। यों अपरापर अनुस्यूत सत् असत् का एक सुव्यवस्थित क्रम है। इससे उत्पाद व्यय एवं ध्रौव्य का सिद्धान्त फलित होता है।

[१९८]

भवभावानिवृत्तावप्ययुक्ता मुक्तकल्पना ।
एकान्तैकस्वभावस्य न ह्यवस्थाद्वय क्वचित् ॥

संसार भाव की अनिवृत्ति—एकान्त नित्यता मानने पर आत्मा के मुक्त होने की कल्पना सिद्ध नहीं होती। क्योंकि जिसका एकान्त सर्वथा स्थिर अपरिवर्त्य एक रूप स्वभाव होता है संसारावस्था मुक्तावस्था—ये दो अवस्थाएँ उसके नहीं हो सकतीं। वैसा होने से उसकी एकस्वभावता में विरोध आता है।

[१९९]

तदभावे च संसारी मुक्तश्चेति निरर्थकम् ।
तत्स्वभावोपमर्दोऽस्य नीत्या तात्त्विक इष्यताम् ॥

[२११]

सर्वत्राऽद्वेषिणश्चैते गुरुदेवद्विजप्रियाः ।
दयालवो विनीताश्च बोधवन्तो यतेन्द्रियाः ॥

वे कुलयोगी सबके अद्वेषी होते हैं—किसी से भी द्वेष नहीं रखते, गुरु, देव तथा ब्राह्मण उन्हें प्रिय होते हैं—वे इनमें प्रीति रखते हैं, इनका आदर करते हैं। वे दयालु, विनम्र, प्रबुद्ध तथा जितेन्द्रिय होते हैं।

[२१२]

प्रवृत्तचक्रास्तु पुनर्यमद्वयसमाश्रयाः ।
शेषद्वयार्थिनोऽत्यन्त शुश्रूषादिगुणान्विताः ॥

चक्र के किसी भाग पर डंडा टिकाकर घुमाने पर वह सारा स्वयं घूमने लग जाता है, वैसे ही जिनका योगचक्र उसके किसी अंग का संस्पर्श कर लेने से प्रवृत्त कर उस पर सारा अपने आप प्रवृत्त हो जाता है, चलने लगता है, वे प्रवृत्तचक्र योगी कहे जाते हैं।

वे इच्छायम तथा प्रवृत्तियम—इन दो का साध चुके हैं। स्थिरयम एवं सिद्धियम—इन दो को स्वायत्त करने की तीव्र चाह लिये रहते हैं, उधर अत्यन्त प्रयत्नशील रहते हैं।

प्रवृत्तचक्र योगी १ शुश्रूषा—सत् तत्त्व सुनने की आन्तरिक तीव्र उत्कण्ठा रखना, २ श्रवण—अर्थ का मनन-अनुसंधान करते हुए सावधानी पूर्वक तत्त्व सुनना, ३ सुने हुए का ग्रहण करना, ४ धारण—ग्रहण किये हुए का अवधारण करना, चित्त में उसका संस्कार जमाना, ५ विज्ञान—अवधारण करने पर उसका विशिष्ट ज्ञान होता है, प्राप्त बोध दृढ़ संस्कार में उत्तरोत्तर प्रबल बनता जाता है, वैसी स्थिति प्राप्त करना, ६ ईहा—चिन्तन, विमर्श, तर्क, वितर्क, शंका-समाधान करना, ७ अपोह—शंका निवारण करना, चिन्तन, विमर्श के अन्तर्गत प्रतीयमान बाधक अंश का निराकरण करना तथा ८ तत्त्वाभिनिवेश—तत्त्व में निश्चय पूर्ण प्रवेश या तत्त्वनिर्धारणमूलक अन्तःस्थिति प्राप्त करना—इन आठ गुणों से युक्त होते हैं।

जो योगियो के कुल म जन्मे हैं—जिन्हे जन्म से ही योग प्राप्त है—जो जन्म से ही योगी हैं जो प्रकृति से ही योगिधर्म के अनुगता हैं, वे कुलयोगी कहे जाते हैं।

तात्पर्य यह है जो योगी योग-साधना करते-करते आयुष्य पूरा कर जाते हैं, उस जन्म म अपनी साधना पूर्ण नहीं कर पाते वे कुलयोगी रूप म जन्म लेते हैं अर्थात पूर्वसंस्कारवश उन्हे जन्म के साथ ही योग प्राप्त होता है उनकी प्रकृति योग साधना के अनुरूप होती है, वे आ मप्रेरित हो स्वयं साधना में जुट जाते हैं।

कुलयोगी शब्द बडा महत्त्वपूर्ण है। जैसे कुलवधू, कुलपुत्र आदि प्रशस्त अर्थ म हैं, उसी प्रकार कुलयोगी भी एक विशेष अर्थप्रशस्तता लिए हुए है। कुलवधू उसे कहा जाता है जो अपने उच्च चारित्र शील सच्चरित्रता तथा सौम्य व्यवहार से कुल को सुशोभित करती है। कुलपुत्र वह है जो अपने उत्तम व्यक्तित्व और कृतित्व से कुल को उजागर करता है। उसी प्रकार कुलयोगी उसे कहा जाता है जो अपनी पावन उदात्त साधना द्वारा योगियों की गरिमा स्थापित करता है, उनके अनुरूप आदर्श जीवन की पवित्रता प्रस्तुत करता है। कुलयोगी आनुवंशिक नहीं है। योगियों का वैसा कोई कुल नहीं होता कि पिता योगी हो पुत्र भी योगी हो, पुत्र का पुत्र भी योगी हो। कुलयोगी शब्द साधनानिष्ठ, योगपरायण पुरुषों की परम्परा से सम्बद्ध है, जो जन्म, वंशानुगति आदि की दृष्टि से भिन्न भिन्न हो सकते हैं।

आयम्भाष्य के अन्तर्गत भारत भूमि म उत्पन्न भूमिभव्य कहे जाते हैं उन्हें गोत्रयोगी भी कहा जाता है। इस भूमि म योग साधना के अनुकूल उत्तम म मधा साधन निमित्त आदि सुलभतया अधिगत होते हैं। पर केवल भूमि की भव्यता से साधना सिद्ध नहीं होता। वह तभी सधती है जब साधक अपनी भावना योग्यता एव सुपात्रता प्रकट कर पाए।

अतएव प्रस्तुत श्लोक म कहा गया है कि दूसरे गोत्रयोगी होते हुए भी उपयुक्त नहीं होते।

[२१३]

आद्यावञ्चकयोगाप्त्या तदन्यद्वयलाभिनः ।
एतेऽधिकारिणो योगप्रयोगस्येति तद्विदः ॥

ये प्रवृत्तचक्रयोगी आद्य-अवञ्चक—योग अवञ्चक प्राप्त कर चुके हैं। योग अवञ्चक प्राप्त करने का यह अमोघ प्रभाव होता है उन्हें दूसरा—क्रिया अवञ्चक तथा फल अवञ्चक सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। इन योगियों के दोनों अवञ्चक स्वायत्त हो जाते हैं। ऐसे योगी ही योग प्रयोग—योग क्रिया या योग साधना के प्रयोग के अधिकारी हैं। योगविद् आध्यात्मिक विज्ञान है। अधिकारी जहाँ इसके महत्त्वपूर्ण प्रयोग द्वारा असीम लाभ उठा सकते हैं वहाँ अनधिकारी हानि उठा लेते हैं।

[२१४]

इहाऽहिंसादयः पञ्च सुप्रसिद्धा यमाः सताम् ।
अपरिग्रहपर्यन्तास्तथेच्छादिचतुर्विधाः ॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह—ये पाँच यम साधकों में सुप्रसिद्ध—सुप्रचलित है। इनमें अहिंसा से अपरिग्रह तक प्रत्येक के इच्छायम, प्रवृत्तियम, स्थिरयम तथा सिद्धियम के रूप में चार चार भेद हैं। ये चारों भेद अहिंसा आदि यमों की तरतमता या विकासकोटि की दृष्टि से हैं उनके क्रमिक अभिवर्धन के सूचक हैं।

इन भेदों के आधार पर निम्नांकित रूप में यम बीस प्रकार के होते हैं—

अहिंसा

१ इच्छा अहिंसा २ प्रवृत्ति अहिंसा
३ स्थिर-अहिंसा ४ सिद्धि अहिंसा।

सत्य

५ इच्छा सत्य ६ प्रवृत्ति सत्य
७ स्थिर सत्य ८ सिद्धि सत्य।

शम का सार—फल यम है। यो यम और शम—दोनों अयोगी अंत सिद्ध होते हैं।

[२१७]

विपक्षचिंतारहित यमपालनमेव तत।
तत्स्थर्यमिह विज्ञेय तृतीयो यम एव हि ॥

प्रवृत्तियम के अन्तर्गत साधक अहिंसा आदि के परिपालन में प्रवृत्त तो हो जाता है किन्तु अतिचार दोष विघ्न आदि का भय बना रहता है। स्थिरयम में ऐसा नहीं होता। साधक के अन्तर्मन में इतनी स्थिरता व्याप्त हो जाती है कि वह विपक्ष—अतिचाररूप कण्टक विघ्न हिंसादिरूप ज्वर विघ्न तथा मतिमान्द्य या मिथ्यात्वरूप दिङ्मोह विघ्न आदि की चिन्ता से रहित हो जाता है। ये तथा दूसरे विघ्न दोष आदि उसके मार्ग में अवरोध उत्पन्न नहीं कर पाते।

[२१८]

परार्थसाधक त्वेतत्सिद्धि शुद्धान्तरात्मन ।
अचिन्त्यशक्तियोगेन चतुर्थो यम एव तु ॥

शुद्ध अन्तरात्मा की अचिन्त्य शक्ति के योग से परार्थ-साधक—दूसरे का उपकार साधने वाला यम सिद्धियम है।

जीवन में क्रमश उत्तरोत्तर विकास पाते अहिंसा आदि यम इतने उत्कृष्ट कोटि में पहुँच जाते हैं कि साधक में अपने आप एक दिव्य शक्ति का उद्भव हो जाता है। उसके व्यक्तित्व में कुछ ऐसी दिव्यता आविर्भूत हो जाती है कि उसके कुछ बोले बिना किये बिना केवल उसकी संनिधिमात्र से उपस्थित प्राणियों पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वे स्वयं बदल जाते हैं उनकी दुर्वृत्ति छूट जाती है।

यमों के सिद्ध हो जाने पर दृष्ट फलित क्या क्या होता है महर्षि पतंजलि ने इस सम्बन्ध में अपने योगसूत्र में विशद चर्चा की है। उदाहरणार्थ अहिंसा यम के सिद्ध हो जाने पर उनके अनुसार अहिंसक योगी के यहाँ

योगबिन्दु

अथवा शुद्ध लक्ष्य लिये हुए है। आत्मकल्याणेच्छु प्रज्ञाशील पुरुषों को चाहिए कि वे इसका मानन—गवेषणा या अनुसन्धान करें।

[५]

गोचरश्च स्वरूपं च फलं च यदि युज्यते।
अस्य योगस्तदाऽयं मुख्यशब्दार्थयोगतः ॥

यदि इसका लक्ष्य, स्वरूप तथा फल उपयुक्त—संगत है तो वस्तुतः इसकी योग संज्ञा सार्थक है क्योंकि यह अपने मुख्य शाब्दिक अर्थ—जोड़ने—योजन—मोक्ष से योजित या जोड़ना—से संवलित है।

[६]

आत्मा तत्कर्मसंयोगात् संसारी तद्वियोगतः।
स एव मुक्त एतौ च तत्स्वाभाव्यात्तयोस्तथा ॥

जीव तत्त्व—अपने से अन्य—कर्म-पुद्गलों के संयोग से संसारी—संसारावस्थापन्न है तथा उनके वियोग से—अपगत हो जाने से मुक्त हो जाता है। संसारावस्था एवं मुक्तावस्था आत्मा और कर्म-पुद्गलों के स्वभाव पर आश्रित है। पुद्गल सम्बद्धता के कारण संसारावस्था है तथा अपने शुद्ध स्वभाव में आने के कारण मुक्तावस्था है जिसका शाब्दिक अर्थ कर्म-पुद्गलों से छुटकारा है।

[७]

अन्यतोऽनुग्रहोऽप्यत्र तत्स्वाभाव्यनिबन्धनः।
अतोऽन्यथा त्वदः सर्वं न मुख्यमुपपद्यते ॥

दूसरे का—देव आदि का अनुग्रह प्राप्त करना भी आत्मा के लिए घटित होता है क्योंकि उसकी वैसी प्रकृति है। यदि ऐसा न माना जाए तो यह सब जो हम मान्यता में निरूपित तथा अभिमत है महत्त्वहीन हो जायेगा।

प्रस्तुत श्लोक के तीसरे चौथे चरण का एक और प्रकार से अर्थ किया जा सकता है जैसे—यदि दूसरी तरह से सोचें तो निश्चय दृष्टि से यह अनुग्रहरूप अनुग्राह्य भाव मुख्य नहीं है मात्र व्यवहार है।

[८]

केवलस्यात्मनो न्यायात सदा॰ऽत्मत्वाविशेषत ।
ससारो मुक्त इत्यतद द्वितय कल्पनव हि ॥

यदि एक मात्र आत्मा का ही अस्तित्व स्वीकार किया जाए पुद्गल आदि अन्य पदार्थों का नहीं तो वह (आत्मा) सदा एकान्तत अपर आत्मरूप गुण म सप्रतिष्ठ रहेगी। ऐसी स्थिति म आत्मा के ससारी तथा मुक्त—यो भेद करना कल्पना मात्र है। अस्तु यह घटित नहीं होता।

[९]

काञ्चनत्वाविशेषेऽपि यथा सत्काञ्चनस्य न ।
शुद्धयशुद्धी ऋते शब्दात तद्वदत्राप्यसशयम ॥

सवथा शुद्ध—अन्य धातुओ से अमिश्रित स्वर्ण के सम्बन्ध म शुद्धता अशुद्धता का कथन घटित नहीं होता। पर सामान्य—अन्य धातु मिश्रित स्वर्ण के प्रसग म शुद्धि अशुद्धि की जो बात कही जाती है वह निरथक नहीं होती। यही तथ्य आत्मा के साथ है। आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था शुद्ध स्वर्ण जसी है और ससारावस्था अन्य धातु मिश्रित स्वर्ण जसी। वहाँ (ससारावस्था में) शुद्धि अशुद्धिमूलक कथन नि सन्देह सगत है।

[१० ११]

योग्यतामन्तरेणास्य सयोगोऽपि न युज्यते ।
सा च तत्तत्स्वमित्यव तत्सयोगोऽप्यनादिमान ॥
योग्यतायास्तथात्वेन विरोधोऽस्यान्यथा पुन ।
अतीतकालसाधर्म्यात किं त्वाजातोऽप्यमीदृश ॥

पुद्गलो को आकृष्ट करना उनसे सम्बद्ध होना आत्मा की योग्यता है। ऐसा न हो तो आत्मा और पुदगल का सयोग घटित नहीं होता। आत्मा अनादि है अत यह योग्यता तथा संयोग भी अनादि हैं।

आत्मा द्वारा प्रति समय कम ग्रहण—कम-पुदगल सयोग की प्रक्रिया देखते इसे अनादि कम मानें इसका समाधान भूतकाल के उदाहरण से लेना चाहिए। वर्तमान भूत भविष्य—ये तीन काल हैं। अनागत—भविष्य जब

अथवा शुद्ध लक्ष्य लिये हुए है। आत्मकल्याणेच्छु प्रज्ञाशील पुरुष को चाहिए कि वे इसका मार्गण—गवेषणा या अनुसंधान करें।

[५]

गोचरश्च स्वरूपं च फलं च यदि युज्यते ।
अस्य यागस्ततोऽयं यन्मुख्यशब्दार्थयोगतः ॥

यदि इसका लक्ष्य, स्वरूप तथा फल उपयुक्त—संगत है तो वस्तुतः इसकी योग संज्ञा सार्थक है क्योंकि यह अपने मुख्य शाब्दिक अर्थ—योज् — योजन — मोक्ष से योजन या जोड़ना—से संवलित है।

[६]

आत्मा तत्कर्मयोगात्म ससारो तद्वियोगतः ।
स एव मुक्त एतौ च तत्स्वाभाव्यात् तयोस्तथा ॥

जीव तत्त्व—अपने से अन्य—कर्म-पुद्गलों के संयोग से सह— संसारावस्थापन्न है तथा उनके वियोग से—अलग हो जाने से मुक्त हो जाता है। संसारावस्था एवं मुक्तावस्था आत्मा और कर्म पुद्गलों के स्वभाव पर आश्रित है। पुद्गल सम्बद्धता के कारण संसारावस्था है तथा अपने शुद्ध स्वभाव में आने के कारण मुक्तावस्था है जिसका शाब्दिक अर्थ कर्म पुद्गलों से छुटकारा है।

[७]

अन्यतो नुग्रहोऽप्यत्र तत्स्वाभाव्यनिबन्धनः ।
अतोऽन्यथा त्वदः सर्वं न मुख्यमुपपद्यते ॥

दूसरे का—देव आदि का अनुग्रह प्राप्त करना भी आत्मा के लिए घटित होता है क्योंकि उसकी वैसी प्रकृति है। यदि ऐसा न माना जाए तो वह सब जो इस सन्दर्भ में निरूपित तथा अभिमत है महत्वहीन हो जायेगा।

प्रस्तुत श्लोक के तीसरे, चौथे चरण का एक और प्रकार से भी अर्थ किया जा सकता है जैसे—यदि दूसरी तरह से सोचें तो निश्चय-दृष्टि से यह अनुग्राहक अनुग्राह्य भाव मुख्य नहीं है, मात्र व्यवहार है।

अत वाद विवादमय सघप का परित्याग कर अध्यात्म का चिन्तन करें। अज्ञानरूप सघन अधकार को दूर किये बिना ज्ञ य—जानन योग्य तत्त्व म ज्ञान प्रवृत्त नही होता। अर्थात वाद विवादमय स घप अज्ञान प्रसूत अधकार की तरह है जो अध्यात्म साधना मे नितान्त बाधक है।

[७०]

सदुपायाद यथवाप्तिरुपयस्य तथव हि ।
नेतरस्मादिति प्राज्ञ सदुपायपरो भवेत ॥

प्राप्त करन योग्य लक्ष्य या वस्तु की प्राप्ति सदुपाय—समुचित समीचान उपाय से ही सभव है अनुचित अनुपयुक्त उपाय स नहीं। अत प्रज्ञाशील पुरुष को चाहिए वह अपना ध्येय प्राप्त करन हेतु उत्तम उचित उपाय का अवलम्बन करे।

[७१]

सदुपायश्च नाध्यात्मादन्य सर्दाशतो बुध ।
दुराप त्विवदोपीह भवा धौ सुष्ठु देहिनाम ॥

ज्ञानी जनो न वस्तु-स्वरूप के यथाथ बोध तथा साधना म अग्र गति हेतु अध्यात्म के अतिरिक्त कोई और सदुपाय नहा बताया है। अथात अध्यात्म हा इनका एकमात्र सु दर उपाय है कि तु ससार सागर म निमग्न देहधारियो—प्राणियो के लिए अध्यात्म को उपलब्ध कर पाना कुछ कठिन है।

[७२]

चरमे पुद्गलावर्ते यतो य शुक्लपाक्षिक ।
भिन्नग्रन्थिश्चरित्री च तस्यवतदुदाहृतम ॥

अन्तिम पुद्गल परावत मे स्थित शुक्लपाक्षिक—मोहनीय कम क तीव्र भाव के अ धकार स रहित भि नग्रन्थि—जिसकी मोह प्रसूत कमग्रन्थि टूट गई है चरित्री—जो चारित्र-परिपालन के पथ पर समारूढ है (वह) अध्यात्म का अधिकारी कहा गया है।

[७३]

प्रदीर्घभवसद्भावा‌न्मालिन्यातिशयात् तथा ।
अतत्त्वाभिनिवेशाच्च नान्येष्वन्यस्य जातुचित् ॥

इन तीनों श्रेणियों से बहिर्भूत—इतर प्राणी अति दीर्घ भव भ्रमण—संसार के जन्ममरणमय चक्र में पुनः पुनः परिभ्रमण आवागमन, आत्मपरिणामों की अत्यधिक मलिनता, मिथ्या तत्त्व में अभिनिवेश—दुराग्रह के कारण अध्यात्म को नहीं पा सकते।

[७४-७५]

अनादिरेष संसारो नानागतिसमाश्रयः ।
पुद्गलानां परावर्ता अत्रानन्तास्तथा गताः ॥
सर्वेषामेव सत्त्वानां तत्स्वाभाव्यनियोगतः ।
नान्यथा संविभक्तया सूक्ष्मबुद्ध्या विभाव्यताम् ॥

यह संसार अनादि है। इसमें मनुष्य गति, देव-गति, नरक-गति व तिर्यञ्च गति के अनेक योनियाँ हैं। जीव अनन्त पुद्गल-परावर्त में से गुजरता है। इसमें अनन्त पुद्गल परावर्त व्यतीत हो चुके हैं। यह भव भ्रमण का क्रम सभी प्राणियों के अपने अपने स्वभाव के कारण है। यदि ऐसा नहीं होता तो पुद्गल परावर्त की कभी परिमितता नहीं होती। इस पर सूक्ष्म बुद्धि से चिन्तन करें।

[७६]

यत्किंचिद् न यत्कार्यं कदाचिज्जायते क्वचित् ।
सत्त्वपुद्गलयोगश्च तथा कार्यमिति स्थितम् ॥

इस जगत में जो भी कार्य है वह यदृच्छा—अकस्मात्—कार्य-कारण परम्परा के बिना कभी भी नहीं होता। यह आत्मा तथा पुद्गल के संयोग का ... है। यही जगत का स्वभाव है।

[७७]

चित्रस्यास्य तथाभाव तत्स्वाभाव्यदृते परः ।
न ... ... च तत्त्व हि तथ ... ॥

आत्मा का कर्म के साथ भिन्न भिन्न प्रकार से संयोग होता है। अतएव उसके भिन्न रूप देखने में आते हैं। इस भिन्नता का कारण जीव के अपने स्वभाव या प्रकृति को छोड़कर और दूसरा नहीं है। वास्तव में यही यथार्थ कारण है ऐसा मानना चाहिए।

[७८]

स्वभाववादापत्तिश्चेदत्र को दोष उच्यताम् ।
तत्तथाभावस्वेन तत्त्वान्यापोहनात् ॥

स्वभाव से कार्य होता है ऐसा मानने में स्वभाववाद का दोष आता है, यों आरोप किया जा सकता है। पर जरा बतलाएँ इसमें क्या हानि है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि इस वाद के स्वीकार का अभिप्राय वस्तु-स्वभाव के अतिरिक्त दूसरे तत्त्व की कारण रूप में अस्वीकृति है। वास्तव में यहाँ ऐसा आशय नहीं है।

[७९]

कालादिसचिवश्चायमिष्ट एव महात्मभिः ।
सर्वत्र व्यापकत्वेन न च युक्त्या न युज्यते ॥

काल आदि के सहयोग से कार्य की सिद्धि होती है ऐसा महापुरुषों ने स्वीकार किया है। काल स्वभाव नियति पुरुषार्थ तथा कर्म—ये पाँचों निमित्त कारण सर्वत्र—उपादान कारण में एवं उपादेय कार्यों में परिव्याप्त रहते हैं। युक्ति से यह सिद्ध नहीं होता हो ऐसा नहीं है यह सिद्ध होता है।

[८०]

तथात्मपरिणामात् तु कर्मबन्धस्ततोऽपि च ।
तथा दुःखादि कालेन तत्स्वभावादृते कथम् ॥

आत्मा के परिणाम से कर्म बन्ध होता है। बन्धावस्था के अनुरूप विपाकोदय होने पर कर्म यथासमय दुःख, सुख आदि के रूप में फल देता है। आत्मा के स्वभाव के बिना यह सब कैसे संभव हो ?

[८१]

यथा कालादियोगेऽपि तस्योत्कर्ष भावत ।
मोऽपि तत्स्वभावेन स्वभावोपयोगत ॥

स्वभाव मात्र से, काल आदि द्वारा सिद्ध होते ऐसा नहीं है। क्योंकि
काल, नियति कर्म तथा पुरुषार्थ ये और स्वभाव में सन्निहित हैं। यदि
या कहा जाये कि काल तो अकिञ्चित्कर है—ये स्वयं कुछ कर नहीं सकते—
यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि स्वभाव में उनका उपयोग है—स्वभाव में
सहायक है, जिससे फल निष्पत्ति सधती है।

[८२]

सामग्र्या कार्यहेतुत्वं तद्व्याभावतोऽपि हि ।
तदभावादिति ज्ञेयं कालादीनां वियोगत ॥

समग्र कारण-सामग्री का सहयोग कार्य की निष्पन्नता में हेतु
है। यदि उपादान के अतिरिक्त दूसरे किसी निमित्त का अभाव हो कारण
सामग्री में उसका संयोग न रहे तो कार्य नहीं होता। इसलिए समग्र
का संयोग भी कार्य निष्पत्ति में कारणभूत है ऐसा मानना चाहिए।

[८३]

एतच्चान्यत्र महता प्रपञ्चेन निरूपितम् ।
नेह प्रतन्यतेऽत्यन्त लेशतस्तूक्तमेव हि ॥

प्रस्तुत विषय में अन्यत्र विस्तार से निरूपण किया गया है अत
यहाँ इसकी विशेष चर्चा नहीं की गई है संक्षेप में कहा गया है।
सोपचित—

[८४ ८५]

कृतमत्र प्रसंगेन प्रकृत प्रस्तुमोऽधुना ।
नाध्यात्मयोगभेदत्वादावर्तेष्वपरेष्वपि ॥
तीव्रपापाभिभूतत्वाज्ज्ञानालोचनवर्जिता ।
सद्वर्त्मावतरन्त्येषु न सत्त्वा गहनेऽध्वत ॥

उक्त विषय में और विवेचन न कर हम प्रस्तुत विषय—अध्यात्म-योग पर आ रहे हैं, जो चरम पुद्गलावर्त में प्रविष्ट व्यक्तियों को ही प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं। क्योंकि वे (दूसरे) तीव्र पापाचरण में ग्रस्त होते हैं व ज्ञान रूपी नेत्र से रहित होते हैं। गहन वन में खोये हुए अन्धे की तरह वे सन्मार्ग प्राप्त नहीं कर सकते।

[८६]

भवाभिनन्दिनः प्रायस्त्रिसंज्ञा एव दुःखिताः ।
कश्चिद्धर्मकृतोऽपि स्युर्लोकपंक्तिकृतादराः ॥

चरमपुद्गलावर्ती प्राणियों के अतिरिक्त अन्य लोग संसार में रचे-पचे रहते हैं—वे सांसारिक भोगोपभोग में आनन्द लेते हैं। वे प्रायः आहार संज्ञा, भय-संज्ञा तथा मैथुन-संज्ञा—इन तीन अन्तर्वृत्तियों में लिप्त रहते हैं दुःखी होते हैं। उनमें से कुछ ऐसे भी होते हैं, जो धर्म क्रिया भी करते हैं किन्तु केवल लोक व्यवहार साधने के लिए। वे भवाभिनन्दी कहे जाते हैं।

[८७]

क्षुद्रो लाभरतिर्दीनो मत्सरी भयवान् शठः ।
अज्ञो भवाभिनन्दी स्यान्निष्फलारम्भसंगतः ॥

भवाभिनन्दी जीव क्षुद्र—तुच्छ, लाभरति—हर समय अपने स्वार्थ में लीन रहने वाला, मत्सरी—ईर्ष्यालु, भयभीत, शठ—धूर्त, जालसाज, अज्ञ—अज्ञानी होता है तथा वह निरर्थक कार्यों में लगा रहता है।

[८८]

लोकाराधनहेतोर्या मलिनेनान्तरात्मना ।
क्रियते सत्क्रिया सात्र लोकपंक्तिरुदाहृता ॥

लोकाराधन—लोगों को प्रसन्न करने हेतु मलिन भावना द्वारा जो सत्क्रिया की जाती है, उसे लोकपंक्ति कहा गया है।

[८६]

भवाभिनन्दिनो लोकपक्त्या धर्मक्रियामपि ।
महती हीनदृष्ट्योच्चदुरन्तां तद्विदो विदुः ॥

भवाभिनन्दी जीव धर्म क्रिया भी लोकानुरंजन के लिए करते हैं। वे महान धर्म को हीन दृष्टि से प्रयोग में लेते हैं जिससे उनकी वह क्रिया अत्यन्त दुःखरूप फलप्रद पापमय क्रिया है। योगवेत्ता ऐसा मानते हैं।

[९०]

धर्मार्थं लोकपङ्क्तिः स्यात् कल्याणाङ्गं महामते ।
तदर्थं तु पुनर्धर्मः पापायाल्पधियामलम् ॥

अत्यन्त बुद्धिशाली पुरुष लोकपंक्ति—जनानुरंजन के बाद धर्म के निमित्त करते हैं, जिसमें उनका कल्याण सिद्ध होता है। किन्तु लोकरंजन हेतु किया गया धर्म का आचरण अल्पबुद्धि मनुष्यों के पाप के लिए ही होता है।

[९१]

लोकपङ्क्तिमतः प्राहुरनाभोगवतो वरम् ।
धर्मक्रिया न महतो हीनताऽत्र यतस्तया ॥

लोकपंक्ति में ग्रस्त होते हुए भी अनाभोगिक मिथ्यात्वी का धर्मक्रिया विशेष अनर्थकर नहीं होती। अभिगृहीत मिथ्यात्वी की धर्मक्रिया क्योंकि वह हीन बुद्धि द्वारा की जाती है अनर्थकर होती है।

[९२]

तत्त्वेन तु पुनर्नैकाप्यत्र धर्मक्रिया मता ।
तत्प्रवृत्त्यादियोगेन लोभक्रोधक्रिया यथा ॥

तात्त्विक दृष्टि में तो उक्त रूप में होना ही प्रकार में की गई धर्म क्रिया यथार्थ्य की सीमा में नहीं आती क्योंकि दोनों में ही सतत्प्रवृत्ति प्रवृत्ति विघ्नजय सिद्धि विनियोग तथा प्रणिधान का अस्तित्व भाव होता है। साथ ही साथ वहाँ लोभ एवं क्रोध जैसी वृत्तियाँ भी अन्तर्निहित होती हैं।

तस्मादचरमावर्तेष्वध्यात्मं नैव युज्यते ।
कायस्थितितरोर्यद्वत् तज्जन्मत्वामरं सुखम् ॥

इस कारण चरम पुद्गलावर्त को छोड़कर अन्यत्र आत्मा अध्यात्म योग को प्राप्त नहीं कर सकती जैसे वनस्पति काय में स्थित जीव अनेक जन्म जन्मान्तर तक उसी काटि (पृथ्वीकाय अपकाय तेजस्काय वायुकाय) में भटकता रहता है, स्वर्ग-सुख नहीं पा सकता ।

[९४]

तेजसानां च जीवानां भव्यानामपि नो तदा ।
यथा चारित्रमित्येवं नान्यदा योगसंभवः ॥

वे भव्य—अन्तत मोक्ष पाने की योग्यता रखनेवाले जीव जो तेजस् काय में स्थित हैं चारित्र प्राप्त नहीं कर सकते वैसे ही वे जीव जो चरम-पुद्गलपरावर्त से पूर्वतन पुद्गल परावर्तों की शृंखला में विद्यमान हैं योग नहीं साध सकते ।

[९५]

तृणादीनां च भावानां योग्यानामपि नो यथा ।
तदा घृतादिभावः स्यात् तद्वद्योगोऽपि नान्यदा ॥

यद्यपि तृण—घास आदि में घृत दूध दही आदि बनने की योग्यता है पर जब तक वे अपनी तृणादिरूप अवस्था में विद्यमान हैं तब तक घृता-दिभाव प्राप्त नहीं कर सकते वैसे ही वे जीव, जो अन्तिम पुद्गल परावर्त से पूर्वतन परावर्तों में है योग प्राप्त नहीं कर सकते ।

[९६]

नवनीतादिकल्पस्तत्तद्भावेऽत्र निबन्धनम् ।
पुद्गलानां परावर्तश्चरमो यावसंगतम् ॥

जैसे अनुकूल संयोग मिलने पर घास आदि मक्खन आदि के रूप में

परिणत हो जाते हैं उसी प्रकार अन्तिम पुद्गल परावर्त में आत्मा धर्म को प्राप्त कर लेती है।

[९७]

अन्य एवह निर्दिष्टा पूर्वसेवापि या परं ।
सा ... मन्ये भवाभिष्वङ्गभावत ॥

अन्य योगवेत्ताओं ने पूर्वसेवा को योग के प्रसंग में आख्यात किया है। पर वह अन्तिम पुद्गल परावर्त से पूर्ववर्ती परावर्तों में होती है, इससे उसमें सांसारिक आसक्ति बनी रहती है।

[९८]

अपुनर्बन्धकादीनां भवाब्धौ चलितात्मनाम् ।
नासौ तथाविधा युक्ता वक्ष्यामो युक्तिमत्र तु ॥

जो अपुनर्बन्धक आदि अवस्थाएँ हैं, जिनकी अन्तरात्मा संसार-सागर से निकल जाने के लिए तिलमिलाती है—सांसारिक भोगोपभोग-प्रलोभनों के प्रति जिनके मन में जुगुप्सा का भाव उत्पन्न हो रहा है, उनके द्वारा समाचरित होते पूर्वसेवा रूप कार्य इस श्रेणी में नहीं आते। इस सम्बन्ध में आगे चर्चा करेंगे।

[९९]

मुक्तिमार्गपरं युक्त्या युज्यते विमलं मनः ।
सद्बुद्ध्यासन्नभावेन यदमीषां महात्मनाम् ॥

अपुनर्बन्धक आदि सात्त्विकचेता पुरुषों का निर्मल मन सद्बुद्धि-सम्यक्ज्ञान आदि की उत्तरोत्तर विकासोन्मुखता—आगे से आगे समुन्नत होती गुणस्थान-परंपरा के कारण मुक्ति-परायण होता है, यह युक्तियुक्त है।

गोपेन्द्र का अभिमत—

[१००-१०४]

तथा चान्यैरपि ह्येतद् योगमार्गकृतश्रमैः ।
संगीतमुक्तिभेदेन यद् गोपेन्द्रमिदं वचः ॥

अनिवत्ताधिकारायां प्रकृतौ सवथव हि ।
न पु सस्तत्त्वमार्गेऽस्मिञ्जिज्ञासाऽपि प्रवतते ॥

क्षेत्ररोगाभिभूतस्य यथाऽत्यन्त विपयय ।
तद्वदवास्य विज्ञ यस्तदावतनिग्रोगत ॥

जिज्ञासायामपि ह्यत्र कश्चित सर्गो निवतते ।
नाक्षीणपाप एकान्तादाप्नोति कुशलां धियम ॥

ततस्तदात्वे कल्याणमायत्यां तु विशेषत ।
मन्त्राद्यपि सदा चारु सर्वावस्थाहित मतम ॥

जिन्होने योग माग म श्रम किया है—उच्चयोगाभ्यास किया है उन इतर परपराओ के योगवेत्ताओ ने वचन भेद म इसी बात का निरूपण किया है—इसी तथ्य की पुष्टि की है । उदाहरणाथ आचाय गोपेन्द्र ने कहा है—

जब तक प्रकृति अनिवत्ताधिकारा रहती है—पुरुष पर छाया हुआ उसका अधिकार सिमट नही जाता तत्त्व-ज्ञान द्वारा पुरुष प्रकृति के जजाल स पथक हो जान की स्थिति लान म तत्पर नहा होता तब तक पुरुष (आत्मा) की तत्त्व माग—योग माग म जिज्ञासा हो नही हाती ।

जस किसी क्षत्र—स्थान विशेप म व्यक्ति का कोई रोग होजाए तो वह भ्रमवश वहाँ मे सम्बद्ध हवा, पानी आदि पदार्थों के प्रति एक भ्रान्त धारणा बना लेता है अथात् वह मान बठता ह उन्ही (हवा पानी आदि) की प्रतिकूलता से उस राग हुआ है वस ही प्रकृति-अधिकृत पुरुप को अपन अज्ञानरूप दोप के कारण यथाथ विपरीत प्रतिभासित होता है ।

अधिक क्या योग की जिज्ञासा तक प्राप्त करन की स्थिति में आने हेतु प्रकृति-अधिकृत पुरुष को दीघ काल में स गुजरना पडता है । जब तक पाप—शुद्धात्मशक्ति के निरोधक राजस तामस प्राकृत भाव—कल्मप अधिकाशत क्षीण नही हो जात पुण्यमयी बुद्धि प्राप्त नही होती ।

सदविवेकपूण बुद्धि प्राप्त होने पर पुरुष (आत्मा) का कल्याण होता

यदि प्रकृति का एकान्त रूप में एक ही स्वभाव माना जाए तो प्रकृति का यदि एक पुरुष या आत्मा पर न अधिकार—संलग्नता या संयोग हटता है तो वह सहज ही सब आत्माओं पर घटित हो जाता है ऐसा मानने को बाध्य होना होगा।

[१०८]

तुल्य एव तया सर्ग सर्वेषां सम्प्रसज्यते ।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त एव मुक्ति ससाधना ॥

ऐसा—प्रकृति का एकस्वभावात्मकता मानने पर ब्रह्मा से लेकर तृण स्तम्ब तक सबका सर्जन एक ही साथ हो जायगा—प्रकृति का सम्बन्ध एक होने से सबके साथ होगा। सर्जन की यह बात मोक्ष पर भी लागू होगी। सबका मोक्ष भी एक ही साथ हो जायगा। प्रकृति की एक पर से अधिकार निवृत्ति—पृथक्ता होगी—सम्बन्ध अपगत होगा तो सब से स्वयमेव वैसा हो जायेगा। पर, वास्तव में वैसा अनुभूत नहीं होता।

पूर्वसेवा—

[१०९]

पूर्वसेवा तु तन्त्रज्ञैर्गुरुदेवादिपूजनम् ।
सदाचारस्तपो मुक्त्यद्वेषश्चेह प्रकीर्तिता ॥

गुरुजनों तथा देवों का पूजन, सदाचार, तप एवं मुक्ति से अद्वेष—मोक्ष का विरोध न करना, बुरा न बताना, उधर अरुचियुक्त न रहना अपितु रुचिशील रहना—इसे शास्त्रज्ञों ने पूर्वसेवा कहा है।

[११०]

माता पिता कलाचार्य एतेषां ज्ञातयस्तथा ।
वृद्धा धर्मोपदेष्टारो गुरुवर्ग सतां मत ॥

माता, पिता, कलाचार्य—भाषा, लिपि, गणित, काव्य, छन्द आदि विभिन्न विद्याएँ तथा कलाएँ सिखाने वाला अध्यापक, इनके—माता पिता आदि इन सबके सम्बन्धी, वृद्ध पुरुष, धर्मोपदेष्टा—धर्म का रहस्य समझानेवाले—सत्पुरुषों ने इन्हें गुरुवर्ग में लिया है।

[१११-११४]

पूजनं चास्य विज्ञेयं त्रिसन्ध्यं नमनक्रिया ।
तस्यानवसरेऽप्युच्चैश्चेतस्यारोपितस्य तु ॥
अभ्युत्थानादियोगश्च तदन्ते निभृतासनम् ।
नामग्रहश्च नास्थाने नावर्णश्रवणं क्वचित् ॥
साराणां च यथाशक्ति वस्त्रादीनां निवेदनम् ।
परलोकक्रियाणां च कारणं तेन सर्वदा ॥
त्यागश्च तदनिष्टानां तदिष्टेषु प्रवर्तनम् ।
औचित्येन त्विदं ज्ञेयं प्राहुर्धर्माद्यपीडया ॥
तदासनाद्यभोगश्च तीर्थे तद्वित्तयोजनम् ।
तद्बिम्बन्याससंस्कार ऊर्ध्वदेहक्रिया परा ॥

इन पूज्य गुरुजनों को तीनों संध्या—प्रातः, मध्याह्न तथा सं
प्रणाम करना। ऐसा अवसर न हो—समीप उपस्थित होकर प्रण
का मौका न हो तो चित्त में उन्हें आदर व श्रद्धापूर्वक स्मरण क
मन में प्रणाम करना। वे (गुरुजन) यदि अपनी ओर आते हों तो
उनके सामने जाना, उनकी सन्निधि में चुपचाप बैठना, अयोग्य स्
उनका नाम न लेना—नामोच्चारण न करना, कहीं भी उनका अ
निन्दा न सुनना, यथाशक्ति उत्तम वस्त्र आदि भेंट करना, परलोक
फलप्रद धर्म क्रिया के संपादन में उन्हें सदा सहयोग देना, जो उन्
हों—जिन्हें वे पसन्द नहीं करते हों, वैसे कार्यों का त्याग करना
इष्ट हों—जिन्हें वे पसन्द करते हों, ऐसे कार्य करना, औचित्य
दोनों प्रकार के कार्यों का निर्वाह करना जिससे उनके धर्माराधन
बाधा, असुविधा न हो, उनके आसन आदि उपयोग में न लेना, उ
का धर्मस्थान में विनियोग करना, स समारोह उनके बिम्ब स्थापि
उनकी ऊर्ध्वदेहक्रिया—मरणोपरान्त किये जाने वाले उनके दाह
आदि कार्य अत्यन्त सम्मानपूर्वक समायोजित करना—ये सब
पूजन के अन्तर्गत हैं।

[१११-११५]

पूजनं चास्य विज्ञेयं त्रिसन्ध्यं नमनक्रिया ।
तस्यानवसरेऽप्युच्चैश्चेतस्यारोपितस्य तु ॥
अभ्युत्थानादियोगश्च तदन्ते निभृतासनम् ।
नामग्रहश्च नास्थाने नावर्णश्रवणं क्वचित् ॥
साराणां च यथाशक्ति वस्त्रादीनां निवेदनम् ।
परलोकक्रियाणां च कारणं तेन सर्वदा ॥
त्यागश्च तदनिष्टानां तदिष्टेषु प्रवर्तनम् ।
औचित्येन त्विदं ज्ञेयं प्राहुर्धर्माद्यपीडया ॥
तदासनाद्यभोगश्च तीर्थे तद्वित्तयोजनम् ।
तद्बिम्बन्यासंसंस्कार ऊर्ध्वदेहक्रिया परा ॥

इन पूज्य गुरुजनों को तीनों सन्ध्याओं—प्रातः मध्याह्न तथा सायं प्रणाम करना, वैसा अवसर न हो—समीप उपस्थित होकर प्रणाम का मौका न हो तो चित्त में उन्हें आदर व श्रद्धापूर्वक स्मरण कर मन में प्रणाम करना, वे (गुरुजन) यदि अपनी ओर आते हों तो उनके सामने जाना, उनकी सन्निधि में चुपचाप बैठना, अयोग्य स्थान में उनका नाम न लेना—नामोच्चारण न करना, कहीं भी उनका अवर्णवाद—निन्दा न सुनना, यथाशक्ति उत्तम वस्त्र आदि भेंट करना, परलोक में फलप्रद धर्म क्रिया के संपादन में उन्हें सदा सहयोग देना, जो उन्हें अनिष्ट हो—जिन्हें वे पसन्द नहीं करते हों वैसे कार्यों का त्याग करना, जो इष्ट हों—जिन्हें वे पसन्द करते हों ऐसे कार्य करना, औचित्यपूर्वक दोनों प्रकार के कार्यों का निर्वाह करना जिसमें उनके धर्माराधन में बाधा, असुविधा न हो, उनके आसन आदि उपयोग में न लेना, उनके धन का धर्मस्थान में विनियोग करना, समारोह उनके बिम्ब स्थापित करना, उनकी ऊर्ध्वदेहक्रिया—मरणोपरान्त किये जाने वाले उनके दाह-संस्कार आदि कार्य अत्यन्त सम्मानपूर्वक समायोजित करना—ये सब गुरु-पूजन के अंग हैं।

है जो उसके लिए अहितकर हो तो वह सर्वथा अनुचित है। इस प्रकार दिया गया दान लेने वाले के लिए अहितकर न होकर हितप्रद होना चाहिए और उसी तरह देने वाले के लिए भी।

[१२८]

धर्मस्यादिपदं दानं, दानं दारिद्र्यनाशनम् ।
जनप्रियकरं दानं दानं कीर्त्यादिवर्धनम् ॥

दान धर्म के चार[1] पदों में प्रथम पद है। दान दारिद्र्य—गरीबी का नाशक है। दान लोकप्रियता देता है। दान यश आदि का संवर्धन करता है।

दान से संबद्ध इस विवेचन की गहराई में जाएँ तो प्रतीत होता है कि आचार्य हरिभद्र जहाँ बहुत बड़े दार्शनिक तत्त्व निष्णात मनीषी थे, वहाँ अत्यन्त व्यावहारिक भी थे। उन्होंने दान के प्रसंग में जो यह सूचित किया है कि अपने पोष्यवर्ग—आश्रित जन, पारिवारिक जन एवं भृत्य आदि को कष्ट न हो, यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है। कई पुण्य-भावुक दानी भी यत्र तत्र देखे जाते हैं जिनके घर वाले या उन पर आश्रित लोग कष्ट पाते रहते हैं, असुविधाएँ झेलते रहते हैं और वे पुण्य के लोभ में औरों को दान देते जाते हैं। आचार्य ने यहाँ अपने आश्रितों के प्रति किसी का जो कर्तव्य है उसे बड़ी सुन्दरता से सुझाया है।

[१२९-१३०]

लोकापवादभीरुत्वं दीनाभ्युद्धरणादरः ।
कृतज्ञता सुदाक्षिण्यं सदाचारः प्रकीर्तितः ॥
सर्वत्र निन्दासंत्यागो वर्णवादश्च साधुषु ।
आपद्यदैन्यमत्यन्तं तद्वत् सम्पदि नम्रता ॥
प्रस्तावे मितभाषित्वमविसंवादनं तथा ।
प्रतिपन्नक्रिया चेति कुलधर्मानुपालनम् ॥

---

[1] धर्म के चार पद—दान, शील, तप, भावना।

असदव्ययपरित्याग स्थाने चतत्क्रिया सदा ।
प्रधानकार्ये निबन्ध प्रमादस्य विवर्जनम् ॥

लोकाचारानुवृत्तिश्च सर्वत्रौचित्यपालनम् ।
प्रवृत्तिर्गर्हिते नेति प्राणै कण्ठगतैरपि ॥

लोक निन्दा से भय, सहायतापेक्षी जनों का सहयोग करने में उत्साह, दूसरों के द्वारा अपने प्रति किये गये उपकार या सहयोग के लिए कृतज्ञ भाव, प्रेमपूर्ण शिष्टता, निन्दा का सर्वत्र परित्याग, सत्पुरुषों की गुण प्रशस्ति, आपत्ति या विपन्नता में अत्यन्त अदीन भाव, सुदृढ़ सहिष्णुता, सम्पत्ति या सम्पन्नता में नम्रता, बोलने के प्रसंग में मितभाषिता एवं अविसंवादिता—अपनी बात अपने ही कथन से न काटना—संगतभाषिता, ग्रहण की हुई प्रतिज्ञाओं का पालन, कुल क्रमागत धर्म-कृत्यों का अनुसरण, असद्व्यय का परित्याग—अयोग्य कार्यों में धन खर्च न करना, योग्य कार्यों में धन खर्च करना, प्रमुख या प्राथमिक कार्यों में अनिवार्य तत्परता, प्रमाद—आलस्य का वर्जन, लोकाभिमत आचार का अनुवर्तन, उचित ज्ञान का सर्वत्र परिपालन, निन्दित कार्यों में प्राणपण से अप्रवृत्ति—मरने तक की नौबत आ जाने पर भी निन्दित काम नहीं करना—इन सबका सदाचार में समावेश है।

[१३१]

तपोऽपि च यथाशक्ति कर्तव्य पापतापनम् ।
तच्च चान्द्रायण कृच्छ्र मृत्युघ्न पापसूदनम् ॥

साधक को यथाशक्ति पापनाशक तप का आचरण करना चाहिए। वह चान्द्रायण कृच्छ्र मृत्युघ्न पापसूदन इत्यादि अनेक रूप में है।

[१३२]

एकैक वर्धयेद् ग्रास शुक्ले कृष्णे च हापयेत् ।
भुञ्जीत नामावस्यायामेष चान्द्रायणो विधि ॥

शुक्ल पक्ष में भोजन में प्रतिदिन एक एक ग्रास बढ़ाते जाना चाहिए तथा कृष्ण पक्ष में एक एक ग्रास घटाना चाहिए। अमावस्या को भोजन नहीं करना चाहिए। यह चान्द्रायण व्रत की विधि है।

इसका अभिप्राय यह है—जिस प्रकार चन्द्रमा की कला शुक्लपक्ष में प्रतिदिन उत्तरोत्तर बढ़ती है पूर्णिमा को वह परिपूर्णता पाती है उसके अनुरूप व्रती प्रतिपदा को एक ग्रास द्वितीया को दो ग्रास, तृतीया को तीन ग्रास चतुर्थी को चार ग्रास, यों एक एक ग्रास बढ़ाते हुए पूर्णिमा के पन्द्रह ग्रास भोजन करे। फिर कृष्णपक्ष में जैसे चन्द्रमा की कला घटती जाती है उसी प्रकार प्रतिपदा को चवदह ग्रास द्वितीया को तेरह ग्रास, तृतीया को बारह ग्रास, चतुर्थी को ग्यारह ग्रास, यों उत्तरोत्तर एक एक ग्रास घटाते हुए अमावस्या को सर्वथा निराहार रहे। चन्द्रमा के घटने बढ़ने के आधार पर खाने के क्रम चलने के कारण इसे चान्द्रायण व्रत कहा गया है।

[१३३]

सन्तापनादिभेदेन कृच्छ्रमेतदनेकधा ।
अकृच्छ्रादतिकृच्छ्रेषु हन्त सन्तारणं परम् ॥

कृच्छ्र तप सतापन आदि भेद से अनेक प्रकार का है। कष्ट न मानते हुए कष्टपूर्ण विधियों का सम्पन्न करने उनके द्वारा आत्म शुद्धि के पथ पर अग्रसर होने का यह उत्तम मार्ग है।

टीका में कृच्छ्र तप के सतापन-कृच्छ्र पाद-कृच्छ्र तथा सपूर्ण-कृच्छ्र ये तीन भेद बतलाये गये हैं और तीनों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया गया है।

[१३४]

मासोपवासमित्याहुर्मृत्युघ्नं तु तपोधनाः ।
मृत्युञ्जयजपोपेतं परिशुद्धं विधानतः ॥

तपोधन उग्र तप को मृत्युञ्जय तप कहते हैं जहाँ एक मास तक का उपवास रखा जाता है साथ ही साथ मृत्युञ्जय मन्त्र का जप किया जाता है तथा जो परिशुद्ध विधि विधानपूर्वक सम्पादित किया जाता है।

[१३५]

पापसूदनमप्येवं तत्तत्पापाद्यपेक्षया ।
चित्रमन्त्रजपप्रायं प्रत्यापत्तिविशोधितम् ॥

भिन्न भिन्न पापों की अपेक्षा से अर्थात भिन्न भिन्न पापों के प्राय श्चित्त के दृष्टिकोण से तदनुरूप निर्दिष्ट भिन्न भिन्न मन्त्रों के जप एवं विधिक्रम के साथ सांसारिक विषयों में अशुभ कर्मों से विरत रहते हुए जो तप साधा जाता है वह पापसूदन नामक तप है।

[१३६]

कृत्स्नकर्मक्षयान्मुक्तिर्भोगसंक्लेशवर्जिता ।
भवाभिनन्दिनामस्यां द्वेषोऽज्ञाननिबंधन ॥

समग्र कर्मों का क्षय हो जाने से मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष भोग—सांसारिक सुख तथा दुःख से रहित है। भवाभिनन्दी (संसार में अत्यन्त आसक्त) प्राणियों को अज्ञान—मिथ्यात्व भाव के कारण मोक्ष के प्रति द्वेष होता है।

[१३७]

श्रूयन्ते चैतदालापा लोके तावदशोभना ।
शास्त्रेष्वपि हि मूढानामश्रोतव्या सदा सताम् ॥

लोक में तथा लोकपरायण शास्त्रों में ऐसे आलाप—कथन सुने जाते हैं जो सत्पुरुषों के लिए सुनने योग्य नहीं हैं—जिन्हें सत्पुरुष सुनना तक नहीं चाहते।

[१३८]

वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्टुत्वमभिवाञ्छितम् ।
न त्वेवाविषयो मोक्षः कदाचिदपि गौतम ! ॥

गौतम ! रमणीय वृन्दावन में गीदड़ की योनि में जन्म लेना भी हमें अभीष्ट है। जो इन्द्रियों का अविषय है—जो इन्द्रियों द्वारा अनुभूत नहीं किया जा सकता अथवा जो सुन्दर दर्शन, मधुर श्रवण, सुखद संस्पर्श, मनोनुकूल आस्वाद तथा सुरभित आघ्राण जैसे इन्द्रिय सुखों से शून्य है, वह मोक्ष हमें नहीं चाहिए।

—

किसी वैष्णव विद्वान या न्याय-दर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम या गौतम के अनुयायी किसी अन्य नैयायिक की गौतम के नाम से सम्बोधित कर यह कथन है ऐसा अनुमान किया जा सकता है। पर एक बात है वैष्णव मोक्ष के प्रति ऐसी अरुचि दिखाए यह संगत प्रतीत नहीं होता।

टीकाकार ने बतलाया है कि यह श्लोक गालव ऋषि के मत का सूचक है, जो उन्होंने अपने शिष्यों में से किसी गौतम नामक शिष्य को सम्बोधित कर कहा हो।

[१३९]

महामोहाभिभूतानामेव द्वेषोऽत्र जायते ।
अकल्याणवतां पुंसां तथा संसारवर्धनः ॥

घोर मोह से दुग्रस्त, अकल्याणमय मनुष्यों में इस प्रकार मोक्ष के प्रति द्वेष होता है जो उनके संसार बढ़ाने का—जन्म मरण के चक्र में बार बार आने का कारण बनता है।

[१४०]

नास्ति येषामयं तत्र तेऽपि धन्याः प्रकीर्तिताः ।
भवबीजपरित्यागात् तथा कल्याणभागिनः ॥

जिन भव्य पुरुषों को मोक्ष के प्रति द्वेष नहीं होता वे धन्य हैं। संसार के बीजरूप मोह का परित्याग कर देने के कारण वे कल्याण के भागी बनते हैं।

[१४१]

सञ्ज्ञानादिश्च यो मुक्तेरुपायः समुदाहृतः ।
मलनाशाय तत्रापि न चेष्टायां प्रवर्तते ॥

सद्ज्ञान दर्शन तथा चारित्र को मुक्ति का उपाय कहा गया है। भव्य जनों की इन आत्मगुणों के नाश हेतु चेष्टा—प्रवृत्ति नहीं होती अर्थात् वे ऐसे कार्य नहीं करते जिनसे सद्ज्ञान आदि दूषित हों।

[१४२]

स्वाराधनाद् यथैतस्य फलमुक्तमनुत्तरम् ।
मलनाशास्तवनर्योऽपि महानेव तथैव हि ॥

जैसे स्वाराधना—आत्माराधना—ज्ञान, दर्शन चारित्र की आराधना का सर्वोत्तम फल मोक्ष कहा गया है उसी प्रकार उनकी खंडना या विराधना का फल घोर अनर्थकर है।

[१४३]

उत्तुङ्गारोहणात् पातो विषान्नात् तृप्तिरेव च ।
अनर्थाय यथात्यन्तं मरणादि तथाप्यताम् ॥

अत्यन्त ऊँचे स्थान पर चढ़कर वहाँ से गिरना, विषयुक्त अन्न खाकर सन्तुष्ट होना जैसे अत्यन्त अनर्थ के लिए होता है वैसे ही ज्ञान दर्शन तथा चारित्र के नाश से आत्मा का घोर अहित होता है।

[१४४]

अत एव च शस्त्राग्निव्यालदुर्ग्रहसन्निभम् ।
श्रामण्यं दुर्गृहीतमुक्तं शास्त्रे महात्मभिः ॥

शस्त्र अग्नि तथा सर्प को यदि अयथावत् रूप में रखा जाए—उन्हें यहाँ-वहाँ न रखा जाए तो वे कष्टप्रद सिद्ध होते हैं उसी प्रकार श्रामण्य—श्रमण जीवन को ठीक रूप में निर्वाह न हो—चारित्र की विराधना हो तो महापुरुषों ने शास्त्र में उसे असुन्दर—अशोभन बतलाया कहा है।

[१४५]

ग्रैवेयकाप्तिरप्यस्य नातः श्लाघ्या सुनीतितः ।
यथान्यायार्जिता सम्पद् विपाकविरसत्वतः ॥

अन्तःकरण की शुद्धि के बिना पाला जाता श्रमण धर्म नवग्रैवेयक देवलोक तक पहुँचा देता है किन्तु वह न्याय दृष्टि से—वास्तव में प्रशंसनीय नहीं होता। वह तो अन्याय द्वारा अर्जित धन जैसा है जो परिणाम विरस होता है—जिसका फल दुःखप्रद होता है।

[१४६]

अनेनापि प्रकारेण द्वयाभावोऽत्र तत्त्वतः ।
हितस्तु यतः सदैतेऽपि तथा कल्याणभागिनः ॥

इस कारण मोक्ष के प्रति द्वेष का अभाव आत्महित हेतु—मार्गानुसार प्राप्त करने मे सहायक होता है। उससे आत्मा का कल्याण सधता है।

[१४७]

येषामेव न मुक्त्यादौ द्वेषो गुर्वादिपूजनम् ।
त एव चारु कुर्वन्ति नान्ये तद्गुरुदोषतः ॥

जिनका मोक्ष मार्ग मे द्वेष नही होता जो गुरु देव आदि का पूर्व-सम्मति आराधना करते है वे ही लोग अपने जीवन में उत्तम कर्त्तव्य कर पाते है। उनके अतिरिक्त दूसरे जिनमे बडे-बडे दोष व्याप्त होते श्रेयस्कर मार्ग प्राप्त नही कर सकते ।

[१४८]

सच्चेष्टितमपि स्तोकं गुरुदोषवतो न तत् ।
भौतहन्तुर्यथाऽन्यत्र पादस्पर्शनिषेधनम् ॥

भारी दोषो का सेवन करने वाला यदि थोडा-सा अच्छा कार्य करे तो उसका कोई विशेष महत्त्व नही होता, वह नगण्य है। वह तो वैसे के राजा की उस आज्ञा जैसा है जिसमे उसने अपने भौत—भौतिकता प्राप्त अथवा शरीर पर भूति-राख मले रहने वाले गुरु को पैर से न छूने की हिदायत की थी किंतु जान से मारने का संकेत किया था।

इस श्लोक के साथ एक दृष्टान्त जुडा हुआ है जो इस प्रकार है—किसी वन में बहुत से भील रहते थे। उनका अपना नगर था उन्होंने अपने में से एक प्रमुख भील को राजा के रूप में प्रतिष्ठापित कर रखा था। वे भील राह चलने लोगों को लूट लेते मदिरा मांस भक्षण आदि दुष्कृत्यो में सदा दुग्रस्त रहते थे। एक बार संयोगवश कुछ तपस्वी वहाँ आये जो फल फूल कन्द, मूल आदि खाकर अपना जीवन चलाते थे। भीलो ने उनका उपदेश सुना। वे उनसे प्रभावित हुए तथा भजन पूजन आदि में उनके साथ भाग लेने लगे। तापसो का आचार्य देवी देवताओं की पूजा करने यज्ञ करने तथा गुरु ब्राह्मणों को दान देने आदि का उपदेश करता था। भीलराज अपने साथियो के साथ उनका भक्त हो गया। श्रद्धा भक्तिपूर्वक उन्हें उत्तम भोजन कराता आदर देता ।

तापसो का आचार्य अपने मस्तक पर एक मुकुट धारण किये रहता था। मुकुट म मोर का पख लगा था। भीलराज के मन म आया वह भी वसा मुकुट पहन किन्तु वन म एक भी मोर नही था क्योकि इन आखेटप्रिय भीलो न पहले ही उनका शिकार कर डाला था। भीलराज न यह सोच तापसो के आचार्य स मुकुट देने का अनुरोध किया। आचार्य न भीलराज की माँग स्वीकार नही की। तब भीलराज न आचार्य की हत्या कर मुकुट प्राप्त करन का भीलो को आदेश दिया। भीलराज न हत्या के लिए नियुक्त भीलो स कहा—ये तापसराज हमारे गुरु हैं इसलिए तुम लोग इनके पर मत लगाना क्योकि गुरुजनो का पर म छुन से बडा पाप होता है या उन्ह पर स न छुते हुए उन्हें मारकर मुकुट ले आना। भीलो न वसा ही किया।

विचारणीय है यहाँ भीलराज की आज्ञा के दो भाग है। एक भाग मे गुरु को पर स न छुने के रूप म आदर भाव व्यक्त किया गया है तथा दूसरा भाग गुरु के वध स सम्बद्ध है जो घोर हिंसामय है। अत यहाँ भीलराज न जो आदर दिखाने की बात कही है वह मात्र विडम्बना है सारहीन है। एक ओर प्राण लेना तथा दूसरी ओर पर स न छुने की बात कहना सवथा अज्ञानमय है। वसी ही स्थिति उस व्यक्ति के साथ है जो बड-बड दोषो का सेवन करता है पर साथ ही थोडा सा सत्काय भी कर लेता है। घोर दोषपूर्ण क्रिया के समक्ष ऐसे नगण्य से सत्काय की क्या महत्ता है।

[१४६]

गुर्वादिपूजनान्नेह तथा गुण उदहृत ।
मुक्त्यद्वेषाद यथात्यन्त महापायनिवर्तित ॥

गुरुजनों की पूजा आदि में इतना गुण या लाभ नही बताया गया है जितना घोर अनथकर सासारिक जजाल स निवत्त न वाले—छुडाने वाले मोक्ष के प्रति द्वेष न रखने में कहा गया है

असदनुष्ठान—

[१५०]

भवाभिष्वङ्गभावेन तथाऽनाभोगयोगतः ।
साध्वनुष्ठानमेवाहुर्नैतास्तत्त्वविपश्चितः ॥

भवाभिष्वङ्ग—ससार मे अत्यधिक आसक्ति होने से तथा अनाभोग योग से—कर्म निर्जरा के भाव बिना मन के उपयोग बिना कर्म होने से विद्वज्जन इन तीन अनुष्ठानों को, जो आगे चर्चित है, सदनुष्ठान नही कहते।

[१५१]

इहामुत्र फलापेक्षा भवाभिष्वङ्ग उच्यते ।
तथाऽनध्यवसायस्तु स्यादनाभोग इत्यपि ॥

इस लोक तथा परलोक मे फल की इच्छा लिए रहना—ऐहिक एवं पारलौकिक फल की कामना से कर्म करना भवाभिष्वङ्ग कहा जाता है। अनध्यवसाय—उचित अध्यवसाय का अभाव—क्रिया मे मन का उपयोग न रहना अनाभोग कहा जाता है।

[१५२]

एतद्युक्तमनुष्ठानमन्यावर्तेषु तद् ध्रुवम् ।
चरमे त्वन्यथा ज्ञेयं सहजाल्पमलत्वतः ॥

अत्यधिक ससारासक्ति से युक्त अनुष्ठान अन्तिम पुद्गल परावर्त से पहले के पुद्गल परावर्तों मे होते हैं। अन्तिम पुद्गल-परावर्त मे सहजतया अल्प मलत्व—कर्म-कालिमा की अल्पता होती है अतः वे वहाँ नही होते।

[१५३]

एकमेव ह्यनुष्ठानं कर्तृभेदेन भिद्यते ।
सरुजेतरभेदेन भोजनादिगतं यथा ॥

एक ही अनुष्ठान कर्ता के भेद से भिन्न भिन्न प्रकार का हो जाता है। जैसे एक ही भोज्य पदार्थ एक रुग्ण व्यक्ति सेवन करे और उसे ही एक

स्वस्थ व्यक्ति सेवन करे तो भोग्य पदार्थ की परिणति एक जैसी नहीं होती, भिन्न भिन्न होती है।

[१५४-१५५]

इत्थं चैतद् यतः प्रोक्तं सामान्येनैव पञ्चधा ।
विषादिकमनुष्ठानं विचारेऽत्रैव योगिभिः ॥

विषं गरोऽननुष्ठानं तद्धेतुरमृतं परम् ।
गुर्वादिपूजानुष्ठानमपेक्षादिविधानतः ॥

गुरु, देव आदि की पूजा, व्रत, प्रत्याख्यान, सदाचार-पालन आदि अनुष्ठान अपने भेद से विष, गर, अननुष्ठान, तद्धेतु तथा अमृत—यों सामान्यतः पाँच प्रकार के होते हैं। योगियों ने ऐसा बतलाया है।

[१५६]

विषं लब्ध्याद्यपेक्षात इदं सच्चित्तमारणात् ।
महतोऽल्पार्थनाज्ज्ञेयं लघुत्वापादनात्तथा ॥

जिस अनुष्ठान के पीछे लब्धि—यौगिक विभूति—चामत्कारिक शक्ति प्राप्त करने का भाव रहता है, वह विष कहा गया है क्योंकि वह चित्त की पवित्रता को मार डालता है—समाप्त कर देता है। महान् कार्य को अल्प प्रयोजनवश तुच्छ बना देता है तथा साधक में लघुत्व—छोटापन लाता है।

[१५७]

दिव्यभोगाभिलाषेण गरमाहुर्मनीषिणः ।
एतद् विहितनीत्यैव कालान्तरनिपातनात् ॥

जिस अनुष्ठान के साथ दैविक भोगों की अभिलाषा जुड़ी रहती है, उसे मनीषी जन गर (धीरे धीरे मारने वाला विष) कहते हैं। भौतिक वासना के कारण कालान्तर एवं भवान्तर में वह आत्मा के दुःख और अधःपतन का कारण होता है।

ये परस्पर भिन्न होते हैं। दोनों के अनुष्ठाताओं में मूलतः भेद होता है। एक अत्यन्त संसारासक्त होता है दूसरा संसार में रहते हुए भी विशेषतः धर्मोन्मुख। अतएव उनके अनुष्ठान में भेद होना स्वाभाविक ही है।

[१६२]

यतो विशिष्ट कर्तायं तदन्येभ्यो नियोगतः ।
तद्योगयोग्यतामेवाश्रित्य सम्यग्विचिन्त्यताम् ॥

अंतिम पुद्गल-परावर्त में स्थित अनुष्ठाता योगाराधना में अपनी विशिष्ट योग्यता के कारण औरों से—जो अंतिम से पूर्ववर्ती परावर्तों में विद्यमान होते हैं भिन्न होता है इस पर भली भाँति चिन्तन करें।

[१६३]

चतुर्थमेतत् प्रायेण ज्ञेयमस्य महात्मनः ।
सहजाल्पमलत्वं तु युक्तिरत्र पुरोदिता ॥

उस (चरम पुद्गलावर्तवर्ती) सत्पुरुष के सहज रूप में कम मल की अल्पता होती है ऐसा पहले उल्लेख किया गया है। यह ऊपर वर्णित भेदों में चौथे भेद—तद्धेतु में आता है।

कर्म विचार—

[१६४]

सहजं तु मलं विद्यात् कर्मसम्बन्धयोग्यताम् ।
आत्मनोऽनादिमत्त्वेऽपि नायमेनां विना यतः ॥

कर्मों को आकृष्ट करना संसारावस्थ आत्मा का स्वभाव है। आत्मा अनादि है इसलिए प्रवाह रूप में आत्मा तथा कर्म का सम्बन्ध भी अनादि है। बाँधना तथा बद्ध होना आत्मा एवं कर्म की योग्यताएँ हैं।

[१६५]

अनादिमानपि ह्येष [illegible] नातिवर्तते ।
योग्यताम [illegible] चा [illegible] यतः ॥

[१६९]

दिदक्षा भवबीजादिशब्दवाच्या तथा तथा ।
इष्टा चान्यैरपि ह्येषा मुक्तिमार्गावलम्बिभि ॥

मोक्ष माग का अवलम्बन करने वाला—उस ओर गतिशील विभिन्न ज्ञानी जनो ने इस योग्यता को दिदक्षा, भवबीज आदि शब्दो से अनेक रूप में आख्यात किया है।

टीकाकार के अनुसार साख्यमतानुयायी इस योग्यता को दिदृक्षा' कहते हैं तथा शव इसे भवबीज' के नाम से अभिहित करते हैं।

अध्यात्म जागरण —

[१७०]

एव चापगमोऽप्यस्या प्रत्यावत सुनीतित ।
स्थित एव तदल्पत्व भावशुद्धरपि ध्रुवा ॥

प्रत्येक पुद्गलावत म जीव की कम-बध की योग्यता उत्तरोत्तर कम होती जाती है। या योग्यता के अल्प या मन्द हो जाने पर निश्चित रूप म भावो की शुद्धि उत्पन्न होती है।

[१७१]

तत शुभमनुष्ठान सवमेव हि देहिनाम ।
विनिवृत्ताग्रहत्वेन तथाबन्धेऽपि तत्त्वत ॥

उसके फलस्वरूप प्राणियो के जीवन म शुभ अनुष्ठान क्रियान्वित होने लगता है। उनका दुराग्रह हट जाता है। इसका कमबध पर भी प्रभाव होता है। अर्थात वह हलका होने लगता है।

[१७२]

नात एवाणवस्तस्य प्राग्वत सक्लेशहेतव ।
तथाऽन्तस्तत्त्वसशुद्धेरुदग्रशुभभावत ॥

अन्तमन की सशुद्धि तथा तीव्र शुभ भाव के कारण तब कम पुद्गल मनुष्य के लिए पहले की तरह क्लेशकारक नही बनते।

—

आत्मा मे व्याप्त रहता है, तब तक उसके दूषित प्रभाव के कारण सासारिक आसक्ति तथा उस ओर आवेग—प्रगाढ़ तीव्रता बनी रहती है, मिटती नही।

[१८४]

सक्लेशायोगतो भूय कल्याणाङ्गतया च यत् ।
तात्त्विकी प्रकृतिर्ज्ञेया तदन्या तूपचारत ॥

जब मनुष्य की प्रकृति मे सक्लेशाऽयोग—आत्मा मुक्त क्रिया म विघ्ना का अयोग हो जाता है—विघ्न दूर हो जाते हैं कल्याण—श्रेयस प्रमुखरूप मे व्याप्त हो जाता है तब वह (प्रकृति) तात्त्विक—यथार्थ अथवा यागान्त भूत होता है यह जानना चाहिए। उसस भिन्न प्रकृति औपचारिक कही जाती है।

[१८५]

एना चाश्रित्य शास्त्रेषु व्यवहार प्रवर्तते ।
ततश्चाधिकृत वस्तु नान्यथेति स्थित ह्यद ॥

प्रकृति का आधार लेकर शास्त्र-व्यवहार प्रवृत्त होता है—उसके आधार पर शास्त्रो मे एतत्सम्बन्धी विवेचन विश्लेषण चलता है। अतः शास्त्र द्वारा अधिकृत—स्वीकृत प्रतिपादित तथ्य निश्चय ही निरर्थक नहीं है। उसकी अपनी सार्थकता है।

[१८६]

शान्तोदात्तत्वमत्रेव शुद्धानुष्ठानसाधनम् ।
सूक्ष्मभावोहसयुक्त तत्त्वसवेदनानुगम् ॥

अपुनर्बन्धक स्थिति म शान्त उदात्त—भावोन्नत सूक्ष्म ऊहापोह सहित तथा वस्तु के यथार्थ स्वरूप की अनुभूतियुक्त शुद्ध अनुष्ठान क्रिया विन होता है।

[१८७]

शान्तोदात्त प्रकृत्येह शुभभावाश्रयो मत ।
धन्यो भोगसुखस्येव वित्ताढयो रूपवान् युवा ॥

जैसे एक धनी, सुन्दर, युवा पुरुष सासारिक भोग भोगने मे भाग्य-

[१८०]

कृतश्चास्या उपन्यास शेषापेक्षोऽपि कायत ।
नासन्नोऽप्यस्य बाहुल्यादन्यथात्रप्रवर्शक ॥

शेष—अपुनर्बंधक जीवों के अतिरिक्त—पुनर्बंधक जीवों की दृष्टि से भी पूर्वसेवा का उल्लेख किया गया है। क्योंकि वह औपचारिक पूर्वसेवा उन्हें वास्तविक पूर्वसेवा तक पहुँचाने में कारण बनती है। जो पुरुष अपुनर्बंधकावस्था के सन्निकटवर्ती है वह प्रायः इसके—पूर्वसेवा के रूप में निरूपित आचार के विपरीत नहीं चलता। वैसा शालीन आचार उसका होता ही है।

[१८१]

शुद्ध यल्लोके यथा रत्न जात्य काञ्चनमेव वा ।
गुण सयुज्यते चित्रस्तद्वदात्मापि दृश्यताम् ॥

लोक में जैसे शुद्ध किया जाता—सम्मार्जित—सशोधित या परिष्कृत किया जाता उच्च जाति का रत्न या स्वर्ण विभिन्न गुणों से समायुक्त हो जाता है शोधन तथा परिष्कार से उसमें अनेक विशेषताएँ आ जाती हैं उसी प्रकार जीव भी अंतःशोधन के क्रम में सदनुष्ठान द्वारा अनेक उत्तम गुणसंयुक्त हो जाता है। इस पर चिंतन पर्यालोचन करें।

[१८२]

तत्प्रकृत्यैव शेषस्य केचिदेनां प्रचक्षते ।
आलोचनाद्यभावेन तथानाभोगसङ्गताम् ॥

कइयों का यह कथन है—अपुनर्बंधक से अतिरिक्त औरों की पूर्वसेवारूप अनुष्ठान एक ऐसा उपक्रम है जो आलोचन—विमर्श या स्वरूप साक्षात्कार रहित तथा उपयोगशून्य है।

[१८३]

युज्यते चैतदप्येवं तीव्रे मलविषे न यत् ।
तदावर्तो भवासङ्गस्तस्योच्चैर्विनिवर्तते ॥

एक अपेक्षा से यह ठीक ही है जब तक कर्ममलरूपी तीव्र वि

[१६१]

अभिमानसुखाभावे तथा क्लिष्टान्तरात्मन ।
अपायशक्तियोगाच्च न ह्येत्थ भोगिन सुखम ॥

धन, यौवन तथा सौ दय हीन पुरुष भोग सुख न पा सकने के कारण भीतर ही भीतर अत्यन्त क्लेश पाता है। सुख तो उसे नाम मात्र का भी नहीं।

[१६२]

अतोऽयस्य तु धन्यादेरिदमत्यन्तमुत्तमम ।
यथा तथव शान्तादे शुद्धानुष्ठानमित्यपि ॥

भोगसम्पन्न पुरुष के भोगमय सुख की अपेक्षा शान्त उदात्त प्रकृति युक्त भव्य पुरुष का शुद्ध—अध्यात्मोन्मुख अनुष्ठान अत्यन्त श्रेष्ठ है। उसी में वास्तविक सुख है।

[१६३]

क्रोधाद्यबाधित शान्त उदात्तस्तु महाशय ।
शुभानुबन्धिपुण्याच्च विशिष्टमतिसङ्गत ॥

आत्मसयत पुरुष क्रोध आदि से बाधित नहीं होता—क्रोध के वशी भूत नहीं होता। वह शान्त, उदात्त एव पवित्र आशय—अन्तर्भाव लिये रहता है। वह पुण्यात्मक शुभ कार्यों में लगा रहता है। अत उसे विशिष्ट-सौम्यता सौजन्य औदार्य आदि विशिष्ट गुणयुक्त बुद्धि प्राप्त रहती है।

[१६४]

ऊहतेऽयमत प्रायो भवबीजादिगोचरम ।
कान्ताविगतगेयादि तथा भोगीव सुन्दरम ॥

भोगासक्त पुरुष रूपवती स्त्री द्वारा गाये जाते सुन्दर गीत आदि पर अत्यन्त रीझा रहता है—उसमें पगा रहता है उसी प्रकार अपुनर्बन्धक जीव भव-बीज—ससार में आवागमन—जन्म-मरण के चक्र के मूल कारण क्या हैं उनसे छुटकारा कैसे हो, इत्यादि विषयों पर तन्मयतापूर्वक चिन्तन-विमर्श में खोया रहता है।

वाली होता है उसी प्रकार जो प्रकृति से शान्त तथा उदार होता है वह शुभ भाव रसायन करने का सौभाग्य लिये रहता है। वह मानव पुरुष शुभ अनुष्ठान में समर्थ रहता है।

[१८८]

अनीदृशस्य च यथा न भोगसुखमुत्तमम्।
अशान्तादेस्तथा शुद्ध नानुष्ठानं क्वाचन ॥

जो पुरुष धान्य सुन्दर तथा युवा नहीं है वह उत्तम भोगों का आनन्द नहीं ले सकता। उसी तरह जो व्यक्ति अशान्त तथा निम्न है वह शुद्ध क्रियानुष्ठान—धर्मानुगत श्रेष्ठ काम नहीं कर सकता।

[१८९]

मिथ्याविकल्परूपं तु द्वयोर्द्वयमपि स्थितम्।
स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पिनिर्मितं न तु तत्त्वतः ॥

दोनों का—भोगी पुरुष तथा साधना मुख पुरुष का, जो अपनी योग्यताओं से रहित है यह सोचना कि वे अपना अभीप्सित प्राप्त करते हैं अपनी बौद्धिक कल्पना के शिल्पी द्वारा बनाया गया मिथ्याविकल्पात्मक प्रासाद है जो तत्त्वतः कुछ नहीं है मात्र विडम्बना है।

[१९०]

भोगाङ्गशक्तिवैकल्यं दरिद्रायौवनस्थयोः।
सुरूपरागाशङ्के च कुरूपस्य स्वयोषिति ॥

जिसके भोगोपयोगी अंग शक्तिशून्य हैं जो निर्धन, यौवनरहित तथा कुरूप है वह अपनी सुन्दर स्त्री में रागासक्त होता हुआ भी उसके सम्बन्ध में मन में आशंका लिये रहता है। सांसारिक सुख से वह वञ्चित होता है।

यही स्थिति उस पुरुष के साथ है जो साधना के सन्दर्भ में सब प्रकार से अयोग्य है। वह साधना का आनन्द कहाँ से पाए?

[१६१]

अभिमानसुखाभावे तथा क्लिष्टा तरात्मन ।
अपायशक्तियोगाच्च न हीत्थ भोगिन सुखम ॥

धन, यौवन तथा सौ दय हीन पुरुष भोग सुख न पा सकने के कारण भीतर ही भीतर अत्य त क्लेश पाता है। सुख तो उसे नाम मात्र का भी नहीं।

] १६२]

अतोऽयस्य तु धयादेरिदमत्य तमुत्तमम ।
यथा तथव शा नादे शुद्धानुष्ठानमित्यपि ॥

भोगसम्प न पुरुष के भोगमय सुख की अपेक्षा शान्त उदात्त प्रकृति युक्त भ य पुरुष का शुद्ध—अध्यात्मो मुख अनुष्ठान अत्य त श्रेष्ठ है। उसी म वास्तविक सुख है।

[१६३]

क्रोधाद्यबाधित शा त उदात्तस्तु महाशय ।
शुभानुब धिपुण्याच्च विशिष्टमतिसङ्गत ॥

आत्मसयत पुरुष क्रोध आदि स बाधित नहीं होता—क्रोध के वशीभूत नहीं होता। वह शान्त उदात्त एव पवित्र आशय—अन्तर्भाव लिये रहता है। वह पुण्यात्मक शुभ कार्यों म लगा रहता है। अत उसे विशिष्ट—सौम्यता सौज य औदार्य आदि विशिष्ट गुणयुक्त बुद्धि प्राप्त रहती है।

[१६४]

ऊहतेऽयमत प्रायो भवबीजादिगोचरम ।
का तादिगतगेयादि तथा भोगीव सु दरम ॥

भोगासक्त पुरुष रूपवती स्त्री द्वारा गाये जाते सु दर गीत आदि पर अत्यन्त रीझा रहता है—उसम पगा रहता है उसी प्रकार अपुनब धक जीव भव-बीज—ससार म आवागमन—ज म-मरण के चक्र के मूल कारण क्या है उनसे छुटकारा कैसे हो, इत्यादि विषयों पर तल्लीनतापूर्वक चिन्तन—विमर्श में खोया रहता है।

[१६५]

प्रकृतेर्भेदयोगेन नासमो नाम आत्मनः ।
हेत्वभेदादिदं चारु न्यायमुद्रानुसारतः ॥

प्रकृति में भेद या भिन्नता से आत्मा में मूलतः भिन्नता—असमानता नहीं आती। वास्तव में आत्म-स्वरूप समान तथा अभिन्न है, जो न्याय द्वारा भली भाँति सिद्ध है।

[१६६]

एवं च सर्वस्तद्योगादयमात्मा तथा तथा ।
भवे भवत्यतः सर्वप्राप्तिरस्याविरोधिनी ॥

आत्मा प्रकृति आदि सबका अपना अपना स्वभावानुरूप परि होता रहता है। प्रकृति से सम्बन्ध होने के कारण आत्मा को संसार में अनेक प्रकार की स्थितियाँ—जन्म मरण, शरीर रूप सुख, दुःख उन्नति अवनति आदि प्राप्त होती हैं। ऐसा होने में कोई विरोध नहीं आता।

[१६७]

सांसिद्धिकमिदं ज्ञेयं सम्यग् नान्यस्य कस्यचित् ।
तद् भिन्न यत्समदेऽपि त कालादिविभेदत ॥

आत्मा के साथ अनादिकाल से चले आते कर्म-संस्कार के कारण वह (आत्मा) मूलतः अभिन्न—सर्वथा सदृश होते हुए भी भिन्नता—विविध रूपात्मकता में परिदृश्यमान है।

[१६८]

विरोधिन्यपि चैवं स्यात् तथा लोकेऽपि दृश्यते ।
स्वरूपतरहेतुभ्यः भेदादे फलचित्रता ॥

जैनेतर मत में भी ऐसा स्वीकृत है तथा लोक में भी ऐसा दृष्टि गोचर होता है। वस्तुओं में जो भिन्नता दिखाई देती है वह उनके अपने स्वरूप तथा उससे सम्बद्ध अन्य कारणों पर आधृत है।

[१६९]

एवमूहप्रधानस्य प्रायो मार्गानुसारिणः ।
एतद्वियोगविषयोऽप्येष सम्यक् प्रवर्तते ॥

एतद्विषयक ऊहापोह—चिन्तन विमर्श में अविरत योगमार्गानुगामी साधक प्रकृति और पुरुष (आत्मा) के वियोग—आत्मा की कर्म बन्धन से मुक्ति के पथ पर गतिशील रहता है।

[२०० २०२]

एव लक्षणयुक्तस्य प्रारम्भादेव चापर ।
योग उक्तोऽस्य विद्वद्भिर्गोपेन्द्रेण यथोदितम् ॥

'योजनाद् योग इत्युक्तो मोक्षेण मुनिसत्तम ।
सनिवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ लेशतो ध्रुव ॥
वेलावलनवन्नद्यास्तदापूरोपसहृते ।
प्रतिस्रोतोऽनुगत्वेन प्रत्यह वर्द्धिसयुत ॥

एतद्रूप लक्षणयुक्त पुरुष के प्रारम्भ से—पूर्वसेवा से लेकर उत्तरवर्ती सभी क्रियानुष्ठान योग के अन्तर्गत हैं ऐसा ज्ञानी पुरुषों ने कहा है। इस सम्बन्ध में आचार्य गोपेन्द्र का प्रतिपादन है—

यह आत्मा को मोक्ष से योजना करता है उसे मोक्ष से जोड़ता है इसलिए मुनिवरों ने इसे योग कहा है। योग का शाब्दिक अर्थ जोड़ना है।

ज्यों ज्यों प्रकृति निवृत्ताधिकार होती जाती है—पुरुष पर से उसका अधिकार अपगत होता जाता है योग जीवन में क्रियान्वित होता है।

जब तूफानी बाढ़ निकल जाती है तो नदी का बढ़ाव रुक जाता है। जो नदी बाढ़ के कारण आगे से बढ़ती जा रही थी अनुस्रोतगामिनी हो रही थी वह वापस सिमटने लगती है—उलटी अपनी ओर सिकुड़ती जाती है प्रतिस्रोतगामिनी हो जाती है। उसी प्रकार जीव जब प्रतिस्रोतगामी—लोकप्रतिकूल अध्यात्मोन्मुख हो जाता है, अपने में समाने लगता है तो उसकी अनुस्रोतगामिता—लोकप्रवाह या सांसारिक विषय-वासना की धारा के साथ बहते जाने का क्रम रुक जाता है।

भिन्नग्रन्थि—

[२०३]

भिन्नग्रन्थेस्तु यत्प्रायो मोक्षे चित्त भवे तनु ।
तस्य तत्सर्व एवेह योगो योगो हि भावत ॥

शुद्ध विषय—शुद्ध लक्ष्य शुद्ध उपक्रम तथा अनुबन्ध—रूप में आगे चलती शृंखला—यों तीन प्रकार से अनुष्ठान शुद्ध है अपेक्षित है। तीनों उत्तरोत्तर उत्कृष्ट—एक दूसरे से आगे से कहे गये है।

[२१२]

आद्य यदेव मुक्त्यर्थं क्रियते पतनाद्यपि।
तदेव मुक्त्युपादेयलेशभावाच्छुभं मतम् ॥

मोक्ष प्राप्ति का लक्ष्य लिये पहाड़ की चोटी से गिरना आदि प्रथम भेद में आते है। क्योंकि गिरने वाले ने यत्किञ्चित् रूप में मुक्ति की उपादेयता स्वीकार की है, मोक्ष के अस्तित्व तथा वाञ्छनीयता में विश्वास प्रकट किया है।

[२१३]

द्वितीयं तु यमाद्येव लोकदृष्ट्या व्यवस्थितम्।
न यथाशास्त्रमेवेह सम्यग्ज्ञानाद्ययोगतः ॥

दूसरे अनुष्ठान में लौकिक दृष्टि से अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह रूप यम आदि के व्यवस्थित पालन का समावेश होता है, पर, सम्यक्ज्ञान आदि के न होने से वह यथावत् रूप में शास्त्र-सम्मत नहीं होता।

[२१४]

तृतीयमप्यदः किन्तु तत्त्वसंवेदनानुगम्।
प्रशान्तवृत्त्या सर्वत्र दृढमौत्सुक्यवर्जितम् ॥

तीसरे अनुष्ठान में दूसरे में उक्त यम आदि का परिपालन तो है, संविग्न—तत्त्व ज्ञानपूर्वक होता है। अर्थात् वहाँ स्थित साधक की यह विशेषता होती है कि उसे तत्त्व-बोध प्राप्त रहता है। उसका सर्वत्र प्रशान्त भाव रहता है। किन्तु उसमें साधनाभ्यास में दृढ़—तीव्र उत्सुकता नहीं होती।

[२१५]

आद्यान्न दोषविगमस्तमोबाहुल्ययोगतः।
तद्योग्यजन्मसन्धानमत एके प्रचक्षते ॥

पहले अनुष्ठान म अज्ञानरूप अधकार की अधिकता के कारण दोष-विगम—मोक्ष म बाधक दोषो का अपाकरण या नाश नही होता।

कई आचार्यों का अभिमत है कि ऐसा करने वाले का अगले जन्म म ऐसी स्थितियाँ प्राप्त होती है जिससे वह मार्ग म दूर ले जाने वाले कारणों को मिटा पाने म सक्षम होता है। फलत योगाभ्यास म सप्रवृत्त होता है।

ग्रन्थकार का यहाँ यह अभिप्राय है कि पर्वत के शिखर से गिरने आदि के रूप म जो आत्मघात किया जाता है उसस वास्तव म मोक्ष सिद्धि नही होती। उससे वे स्थितियाँ अपगत नही होती जिनके कारण मोक्ष प्राप्ति बाधित होती है। क्योकि वह उपक्रम अत्यधिक अज्ञान प्रसूत होता है। मात्र इसलिए उसे शुभ अनुष्ठान म लिया गया है कि ऐसा करने वाले के मन म मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा रहती है।

[२१६]

मुक्तविच्छापि यच्छलाघ्या तम क्षयकरी मता ।
तस्या समन्तभद्रत्वादनिदर्शनमित्यद ॥

मोक्ष की इच्छा होना भी प्रशसनीय है। ऐसा माना गया है उससे अज्ञानरूप अधकार का नाश होता है। इतना तो है किन्तु मोक्ष तो सर्वथा कल्याणमय—सम्पूर्णत शुद्धावस्थापन्न है अत प्रथम कोटि (गिरि पतन आदि) म आने वाले अनुष्ठान उसके साक्षात हेतु नही होते।

[२१७]

द्वितीयाद् दोषविगमो न त्वकान्तानुबन्धनात ।
गुरुलाघवचिन्तादि न यत तत्र नियोगत ॥

दूसरी कोटि के अनुष्ठान म मोटे रूप म दोषो का अपगम तो होता है पर एकान्तत दोषापगम का क्रम नही चलता—पूरी तरह दोष नही मिटते। क्या गुरु—बडा या ऊँचा है क्या लघु—छोटा या हलका है, वह अपने क्रिया कलाप म ऐसा कुछ भेद नही कर पाता।

[२१८]

अत एवेदमार्याणा बाह्यमन्तमलीमसम ।
कुराजपुरसच्छालयत्नकल्प व्यवस्थितम् ॥

[२२२]

उपदेशं विनाप्यर्थकामौ प्रति पटुर्जनः ।
धर्मस्तु न विना शास्त्रादिति तत्रादरो हितः ॥

अर्थ और काम—धन और सांसारिक भोग में मनुष्य बिना उपदेश के भी निपुण होता है। किंतु धर्म-ज्ञान शास्त्र बिना नहीं होता। अतः शास्त्र के प्रति आदर रखना मनुष्य के लिए बड़ा हितकर है।

[२२३]

अर्थादावविधानेऽपि तदभावः परं नृणाम् ।
धर्मेऽविधानतोऽनर्थः क्रियोदाहरणात् परः ॥

यदि कोई अर्थोपार्जन का प्रयत्न न करे तो इतना ही होता है, उसके धन का अभाव रहेगा। पर यदि धर्म के लिए वह प्रयत्न न करे तो आध्यात्मिक दृष्टि से उसके लिए बड़ा अनर्थ हो जाता है। औषधि-सेवन के उदाहरण से इसे समझना चाहिए। जैसे कोई रोगी यदि भली भाँति औषधि न ले तो उसका रोग बढ़ता जाता है, अन्ततः मारक भी सिद्ध हो सकता है। इसी प्रकार धर्माचरण न करने से होने वाला अनर्थ आत्म-स्वस्थता में आत्मकल्याण या आत्माभ्युदय में बाधक होता है।

[२२४]

तस्मात् सदैव धर्मार्थी शास्त्रयत्नः प्रशस्यते ।
लोके मोहान्धकारेऽस्मिन् शास्त्रालोकः प्रवर्तकः ॥

इसलिए धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के हेतु जो शास्त्रानुशीलनरूप प्रयत्न किया जाता है, वह प्रशंसनीय है। मोह के अंधकार से आच्छन्न जगत् में शास्त्रालोक—शास्त्राध्ययन से मिलने वाला प्रकाश मार्गदर्शक है।

[२२५]

पापामयौषधं शास्त्रं शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम् ।
चक्षुः सर्वत्रगं शास्त्रं शास्त्रं सर्वार्थसाधनम् ॥

शास्त्र पाप रूपी रोग के लिए औषधि है। शास्त्र पुण्य-बन्ध का हेतु है—पुण्य कार्यों में प्रेरक है। शास्त्र सर्वत्र गामी नेत्र है—शास्त्र द्वारा

सब प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात यह ज्ञानमय चक्षु है। शास्त्र सभी प्रयोजनों का साधन है।

[२२६]

न यस्य भक्तिरेतस्मिस्तस्य धर्मक्रियापि हि ।
अन्धप्रेक्षाक्रियातुल्या कर्मदोषादसत्फला ॥

जिसकी शास्त्र में भक्ति—श्रद्धा नहीं है उस द्वारा आचरित क्रिया भी कर्म दोष के कारण उत्तम फल नहीं देती। वह अंध मनुष्य प्रेक्षाक्रिया—देखने के उपक्रम जैसी है। अंधा देखने का प्रयत्न करते भी कुछ देख नहीं पाता। यही स्थिति उस क्रिया की है। अंधे के नेत्र नहीं है और शास्त्रभक्तिशून्य पुरुष के पास शास्त्र से प्राप्य नेत्र नहीं है। यों दोनों एक अपेक्षा से समान ही हैं।

[२२७]

यः श्राद्धो मन्यते मान्यानहङ्कारविवर्जितः ।
गुणरागी महाभागस्तस्य धर्मक्रिया परा ॥

जो श्रद्धावान गुणानुरागी सौभाग्यशाली पुरुष सम्माननीय सत्पुरुषों का अहङ्काररहित होकर सम्मान करता है उस द्वारा आचरित धर्म क्रिया अत्यन्त श्रेष्ठ होती है।

[२२८]

यस्य त्वनादरः शास्त्रे तस्य श्रद्धादयो गुणाः ।
उन्मत्तगुणतुल्यत्वान्न प्रशंसास्पदं सताम् ॥

जिसका शास्त्र के प्रति अनादर है उसके श्रद्धा, व्रत त्याग, ध्यान आदि गुण एक पागल अथवा भूत प्रेत आदि द्वारा ग्रस्त उन्मत्त के गुणों जैसे हैं। वे सत्पुरुषों द्वारा प्रशंसनीय नहीं हैं।

यद्यपि श्रद्धा आदि गुण अपने आप में बहुत अच्छे है पर जिस रूप पात्र में वे टिके हों वह यदि विकृत हो तो इन उत्तम गुणों का यथेष्ट लाभ मिल नहीं पाता। उन्मत्त पुरुष के साथ यही बात है और बात उस पुरुष के साथ है जो नासमझी के कारण शास्त्र का अनादर करता है। यह भी तो एक प्रकार उन्माद ही है।

[२२९]

मलिनस्य यथाऽत्यन्त जल वस्त्रस्य शोधनम् ।
अन्त करणरत्नस्य तथा शास्त्र विदुर्बुधा ॥

जस मला वस्त्र जल द्वारा धोये जान पर अत्यन्त स्वच्छ हो जाता ह वसे ही अन्त करण की स्वच्छता—शुद्धि शास्त्र द्वारा होता है एसा ज्ञानी पुरुष मानत हैं।

[२३०]

शास्त्रे भक्तिजगद्वन्द्य मुक्तेदूतो परोदिता ।
अत्रवेयमतो न्याय्या तत्प्राप्त्यासन्नभावत ॥

शास्त्र भक्ति मानो मुक्ति का दूती है अथात आत्मारूपी प्रमी—आशिक तथा मुक्तिरूपी प्रमिका—माशूका का मिलन करान मे—आत्मा को मुक्ति-संयुक्त कराने मे वह सन्देशवाहिनी का काम करता है। मुक्ति का सन्देश आत्मा तक पहुचाती है जिसस आत्मा म मुक्ति को प्राप्त करने की उत्कण्ठा बढती है।

[२३१]

तथात्मगुरुलिङ्गानि प्रत्ययस्त्रिविधो मत ।
सवत्र सदनुष्ठाने योगमार्गे विशेषत ॥

आत्मा द्वारा—अन्तरावलोकन या आत्मानुभूति द्वारा गुरु—द्रष्टा के उपदेश द्वारा बाह्य चिह्न लक्षण या शकुन आदि द्वारा—यों तीन प्रकार से सदनुष्ठान मे विशेषरूप स योगमाग मे प्रत्यय—प्रतीति या श्रद्धा होना है।

[२३२]

आत्मा तदभिलाषी स्याद् गुरुराह तदेव त ।
तल्लिङ्गोपनिपातश्च सम्पूर्ण सिद्धिसाधनम् ॥

आत्मा म सदनुष्ठान का अनुसरण करन की अभिलाषा हो, गुरु वैसा ही उपदेश करते हो तथा बाहरी चिन्ह शकुन आदि अनुकूल हो तो उस अनुष्ठान की परिपूर्ण सफलता का सकेत मिलता है।

का—आगम निरूपित तत्त्व दर्शन का उल्लंघन कर वह योग मार्ग में प्रवृत्त होता है यह उसकी अज्ञता ही तो है।

[२४१]

न सद्योगभव्यस्य वृत्तिरेवंविधाऽपि हि ।
न जात्वजात्यधर्मान यज्जात्य सन् भजते शिखी ॥

उत्तम योग में प्रवृत्त भव्य पुरुष की ऐसी क्रिया विधि में प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे उत्तम जाति में उत्पन्न मयूर अपना जाति धर्म छोड़कर अन्य में कभी प्रवृत्त नहीं होता। अपने स्वरूप स्वभाव तथा स्तर के अनुरूप उसकी प्रवृत्ति होती है।

[२४२]

एतस्य गर्भयोगेऽपि मातृणां श्रूयते परः ।
औचित्यारम्भनिष्पत्तौ जनश्लाघ्यो महोदयः ॥

शास्त्रों में प्रतिपादित है कि उस प्रकार का उत्तम जीव जब माता के गर्भ में आता है तो माता की प्रवृत्ति एवं कार्य विधि में विशेष औचित्य तथा उच्च भाव आ जाता है जो सब द्वारा प्रशंसित होता है।

[२४३-२४४]

जात्यकाञ्चनतुल्यास्तत्प्रतिपच्चन्द्रसन्निभाः ।
सदोजोरत्नतुल्याश्च लोकाभ्युदयहेतवः ॥
औचित्यारम्भिणोऽक्षुद्राः प्रेक्षावन्तः शुभाशयाः ।
अवन्ध्यचेष्टाः कालज्ञा योगधर्माधिकारिणः ॥

योग धर्म के अधिकारी पुरुष उत्तम जाति के स्वर्ण के समान अपने गुणों से देदीप्यमान शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के चन्द्र के सदृश उत्तरोत्तर वृद्धिशील श्रेष्ठ आभायुक्त रत्न के तुल्य उत्तम ओज से विभाजित लोक कल्याणकारी समुचित कार्यों में संलग्न उन्नत विचारशील पवित्र भावयुक्त सफल प्रयत्नकारी तथा अवसरज्ञ होते हैं।

[२४५]

यत्नात्र शिखिदृष्टान्त शास्त्रे प्रोक्तो महात्मभिः ।
स तदण्डरसादीनां सच्छक्त्यादिप्रसाधनः ॥

शास्त्र म महापुरुषो ने मयूर के दृष्टात द्वारा सदयोग साधक का जो आख्यान किया है उनका अभिप्राय यह है कि जसे मयूरी के अण्ड उसके सार, गुण आदि की शक्ति अन्य पक्षियो के अण्डो की तुलना म असाधारण विशेषता युक्त होती है। उत्पन्न होन वाले मयूर शिशु का मूल अण्डे म ही तो है जो समय पाकर सर्वागसम्पन्न बाल मयूर के रूप म आविर्भत होता है। इसी प्रकार उत्तम योगसाधक की अपनी कुछ ऐसी अन्तर्निहित विश पनाए होती हैं, जो यथासमय विशिष्ट समुन्नत योगोपलब्धि के रूप म प्राकट्य पाती है।

[२४६]

प्रवृत्तिरपि चतेषां धर्यात सवत्र वस्तुनि ।
अपायपरिहारेण दीर्घालोचनसङ्गता ॥

ऐस उत्तम योगियो की सब वस्तुओ म सब कार्यों म विघ्नो का परिहार करते हुए धय तथा गहन चिन्तनपूर्वक प्रवृत्ति होती है।

[२४७]

तत्प्रणतमभाक्रान्तचित्तरत्नविभूषणा
साध्यसिद्धावनौत्सुक्यगाम्भीयस्तिमितानना ।
॥

योग प्रणेताओ—महान् योगाचार्यों के सदुपदेश विचार-दशन आदि से सद्योगाभ्यासी पुरुषो का चित्तरूपी रत्न विभूषित रहता है अर्थात अपने चित्त में तत्प्ररूपित दिव्य ज्ञान को सजोये रहते हैं। उनका व्यक्तित्व उन्नत होता है कि अपना साध्य सिद्ध हो जान पर भी वे विशेष उत्सुकता उमग नही दिखलाते गम्भीर तथा स्थिर मुख-मुद्रा-युक्त रहते हैं।

[२४८]

फलवद् द्रुमसद्बीजप्ररोहसदृश तथा ।
साध्वनुष्ठानमित्युक्त सानुबन्ध महर्षिभि ॥

महर्षियो न उत्तम उत्तरोत्तर प्रशस्त शृखलामय अनुष्ठान को फलो से लदे वृक्ष के श्रेष्ठ बीज तथा अकुर के सदृश कहा है बीज तथा

अंकुर ही वे मूल आधार है, जिन पर विकास वृक्ष विकसित हुआ। उस प्रकार योगियो द्वारा आचरित होता सदनुष्ठान ही आत्मा के उत्तरोत्तर विपुल विकास विस्तार का प्रमुख बीज प्ररोह तथा प्रमुख आधार है।

[२४६]

अन्तर्विवेकसम्भूतं शान्तोदात्तमविप्लुतम् ।
नाग्रोद्भवलताप्रायं बहिश्चेष्टाधिमुक्तिकम् ॥

योगी के अन्तःकरण में विवेक उत्पन्न हो जाता है। उसकी वृत्ति शान्त तथा उच्चभाव युक्त हो जाती है। उसकी यह स्थिति कभी विप्लुत नहीं होती। जैसे वृक्ष की जड़ में उगी हुई तथा तने के साथ बढ़ती हुई बेल बाहर अपना फैलाव नहीं करती अन्य बेलों से सम्बद्ध नहीं होती — उसी प्रकार योगी का चित्त बाहरी चेष्टाओं से विमुक्त हो जाता है, आत्मभाव में लीन रहता है उसी के सहारे विकास करता जाता है।

[२५०]

इष्यते चैतदप्यत्र विषयोपाधिसङ्गतम् ।
निर्दर्शितमिदं तावत् पूर्वमत्रैव लेशतः ॥

पूर्ववर्णित त्रिधा शुद्ध अनुष्ठान के अन्तर्गत पहला विषय या स्वरूप अनुष्ठान भी उपचार से योग का अंग है। इस सम्बन्ध में हमारे पहले चर्चा आ ही चुकी है।

यहाँ यह उल्लेख करने का आशय यह है कि जब पहला भी एक अपेक्षा से योग के अन्तर्गत माना जाता है तब दूसरा तथा तीसरा तो वैसा है ही।

[२५१]

अपुनर्बन्धकस्यैवं सम्यग्नीत्योपपद्यते ।
तत्तत्तन्त्रोक्तमखिलमवस्थाभेदसंश्रयात् ॥

भिन्न भिन्न योगशास्त्रों में अवस्था भेद के आधार पर योग के प्रारम्भिक भूमिका के सन्दर्भ में जो बताया गया है उस पर यदि युक्तिपूर्वक विचार करें तो अपुनर्बन्धक के साथ समन्वय घटित हो जाता है।

सम्यकदृष्टि स्वरूप'—

[२५२]

स्वत प्रनीतितरत्वव ग्रन्थिभेदे तथा सति ।
सम्यग्दृष्टिर्भवत्युच्च प्रशमादिगुणान्वित ॥

जसा जन शास्त्रा मे वर्णित हुआ है, ग्रथि भद हो जान पर जीव सम्यक-दृष्टि हो जाता है। उसमे प्रशम—उत्कृष्ट शान्त भाव आदि गुण विशेष रूप मे प्रकट हो जाते हैं।

[२५३]

शुश्रूषा धमरागश्च गुरु-देवादिपूजनम ।
यथाशक्तिविनिर्दिष्ट लिङ्गमस्य महात्मभि ॥

यथाशक्ति धम-तत्त्व सुनन की इच्छा धम के प्रति अनुराग, गुरु तथा देव आदि की पूजा—ये उसके चिह्न या लक्षण है एसा महापुरुषा न बतलाया है।

[२५४]

न किन्नरादिगयादौ शुश्रूषा भोगिनस्तथा ।
यथा जिनोक्तावस्येति हेतुसामथ्यभेदत ॥

सम्यक्दृष्टि पुरुष को वीतराग प्ररूपित उपदश तत्त्व ज्ञान सुनन म इतनी प्रीति होती है जितनी एक भोगासक्त पुरुष को किन्नर गधव प्रभृति सगीतप्रिय विशिष्ट देवा द्वारा गाये जाते गीत आदि सुनन में भी नही होती। इसका कारण हेतु तथा सामथ्य का भेद है।

[२५५]

तुच्छ च तुच्छनिलयप्रतिबद्ध च तद यत ।
गेय जिनोक्तिस्त्रलोक्यभोगससिद्धिसगता ॥

पूर्वोक्त गीत तुच्छ—साररहित होता है तुच्छ—इनके विषय से सम्बद्ध होना है किन्तु वीतराग-वाणी की अपनी एसी विशेषता तथा प्रभाव-

कता है कि उसमे तीनों लोकों की सुख-समृद्धि प्राप्त हो जाती है और अंतत मोक्ष प्राप्त होता है।

[२५६]

हेतुभेदो महानेवमनयोर्यद् व्यवस्थित ।
चरमात तन्न युज्यतेऽस्यन्य भावातिशययोगत ॥

इन दोनों प्रकार की शुश्रूषाओं मे कारण का बड़ा भेद है। अन्तिम पुद्गल-परावर्त में स्थित भव्य प्राणी का अपने उत्तम भावों के कारण वीतराग-वाणी सुनने में प्रीति होती है।

[२५७]

धर्मरागोऽधिकोऽस्यैव भोगिन स्त्र्यादिरागत ।
भावत कर्मसामर्थ्यात प्रवत्तिस्त्वन्यथाऽपि हि ॥

भोगासक्त पुरुष को स्त्री आदि के प्रति जितना अनुराग होता है, सम्यक्दृष्टि पुरुष को धर्म के प्रति उससे कहीं अधिक अनुराग होता है। यदि पूर्वकृत कर्मों के परिणामस्वरूप कभी संसार में उसकी विपरीत प्रवृत्ति हो तो भी उसका धर्मानुराग मिटता नहीं।

[२५८]

न चैव तत्र नो राग इति युक्त्योपपद्यते ।
हवि पूर्णप्रियो विप्रो भुङ्क्ते यत पूयिकाद्यपि ॥

विपरीत प्रवृत्ति में धर्मानुराग नहीं टिकता, ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं है। उदाहरणार्थ, जैसे ब्राह्मण को घृतसिक्त मिष्ठान्न प्रिय होता है, किन्तु उसे कभी रूखा-सूखा भोजन भी करना पड़ता है। उसका यह अर्थ नहीं होता कि उसे मिठाई में अनुराग नहीं है। रूखा-सूखा भोजन तो उसे विवश होकर करना पड़ता है उसकी चाह तो मिठाई में ही रहती है। यही स्थिति यहाँ वर्णित सम्यक्दृष्टि साधक के साथ है। उसकी चाह तो धर्म में ही रहती है प्रतिकूल प्रवृत्ति में पड़ जाना होता है यह पूर्वार्जित कर्मों का परिणाम है दुर्बलता है।

[२५६]

पातात् त्वस्येत्वर काल भावो वि विनिवर्तते ।
वातरेणुभत चक्षुः स्त्रीरत्नमपि नेक्षते ॥

जब व्यक्ति अपने स्थान से पतित हो जाता है—अपने द्वारा स्वीकृत सम्यक्मार्ग में अपने को टिकाये नहीं रख पाता तो उसकी धर्मोन्मुख प्रवृत्ति विनिवृत्त हो जाती है—रुक जाती है। जैसे किसी मनुष्य की आँख आँधी में उड़ी धूल से भर जाय तो वह स्त्रीरत्न—रूपवती स्त्री को भी नहीं देख सकता।

[२६०]

भागिनोऽस्य स दूरेण भावसार तयेक्षते ।
सवकत व्यतारयागाद् गुरुदेवादिपूजनम् ॥

भोगासक्त पुरुष जैसे अपने कर्तव्य—करने योग्य कर्म छोड़कर दूर होते हुए भी मुन्दर स्त्री को तन्मयतापूर्वक देखता है उसी प्रकार सम्यक् दृष्टि साधक सांसारिक कार्यों में पृथक रहता हुआ गुरु देव आदि की पूजा सत्कार तथा ऐसे ही अन्यान्य धार्मिक कृत्यों में तन्मयतापूर्वक संलग्न रहता है।

[२६१]

नित्र न हापयत्येव कालमत्र महामति ।
सारतामस्य विज्ञाय सद्भावप्रतिबन्धत ॥

वह परम प्रज्ञाशील अनवरत उत्तम भाव युक्त पुरुष—गुरु-पूजा, देव-पूजा आदि पवित्र कार्य धर्म का सार है यह जानता हुआ उन (कार्यों) के लिए अपक्षित समय नष्ट नहीं करता और कार्यों में खर्च नहीं करता उन्हीं में लगाता है।

[२६२]

शक्तेन्यूनाधिकत्वेन नात्राप्येव प्रवर्तते ।
प्रवृत्तिमात्रमेतद यद् यथाशक्ति तु सत्फलम् ॥

शक्ति की न्यूनता या अधिकता के कारण साधक की प्रवृत्ति उसी

सीमा तक होती है जहाँ तक उस द्वारा शक्य हो। सक्षमता के बाहर प्रवृत्ति नही सधती।

अपनी शक्ति या योग्यता का ध्यान रखे बिना जो देव-पूजन आदि धर्म-कृत्य म श्रद्धापूर्ण लगा रहता है वहाँ वे कार्य केवल प्रवृत्ति मात्र नितान्त यान्त्रिक होते हैं। उनकी वास्तविकता घटित नहीं होती। जो अपनी शक्ति के अनुरूप कार्य करता है वे (कार्य) सही रूप म सधते हैं तथा उनका सत्फल प्राप्त होता है।

तीन करण—

[२६३]

एव भूतोऽयमाख्यात सम्यग्दृष्टिर्जिनोत्तम ।
यथाप्रवृत्तिकरणव्यतिक्रान्तो महाशय ॥

जो यथाप्रवृत्तिकरण को पार कर चुका है उत्तम परिणामयुक्त है ऐसा पुरुष सर्वज्ञो द्वारा सम्यक्दृष्टि कहा गया है।

[२६४]

करण परिणामोऽत्र सत्त्वाना तत पुनस्त्रिधा ।
यथाप्रवृत्तमाख्यातमपूर्वमनिवृत्ति च ॥

प्राणियो का आत्मपरिणाम या भावविशेष करण कहा जाता है। वह तीन प्रकार का है—यथाप्रवृत्तकरण अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण। यथाप्रवृत्तकरण का ऊपर उल्लेख हुआ ही है।

[२६५]

एतत त्रिधाऽपि भव्यानाम येषामाद्यमेव हि ।
ग्रन्थि यावत् त्विद त तु समतिक्रामताऽपरम ॥

ये तीनो प्रकार के करण भव्यात्माओ के सधते हैं। अभव्यात्माओ के केवल पहला—यथाप्रवृत्तकरण ही होता है। वे ग्रन्थि भेद के निकट आकर वापस गिर जाते हैं। भव्यात्माओ के यह (यथाप्रवृत्तकरण) ग्रन्थि भेद तक रहता है। ग्रन्थि भेद की स्थिति प्राप्त कर, इस लाँघकर वे अपूर्वकरण मे पहुँच जाते हैं।

[२६६]

भिन्नग्रन्थेस्तृतीय तु सम्यग्दृष्टेरतो हि न ।
पतितस्याप्यतो बन्धो ग्रन्थिमुल्लङ्घ्य देशित ॥

जिसके ग्रन्थि भेद हो चुकता है उसके तृतीय करण होता है। उस सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है। तत्पश्चात वह अपेक्षित नही रहता।

सम्यक्दृष्टि यदि वापस नीचे भी गिरता ह तो उसके वसा तीव्र कर्म-बन्ध नही होता जसा उसके होता ह जो भिन्न ग्रन्थि नही ह।

[२६७]

एव सामान्यतो ज्ञेय परिणामो स्य शोभन ।
मिथ्यादृष्टेरपि सतो महाबन्धविशेषत ॥

मिथ्यादृष्टि होते हुए भी सामान्यत उसके आत्मपरिणाम अच्छे होते हैं। इसलिए उसके जो कर्म-बन्ध होता ह वह बहुत गाढ नही होता।

मिथ्यादृष्टि दो प्रकार के होते हैं। एक वह मिथ्यादृष्टि है जिसे सम्यक दृष्टि कभी प्राप्त नही हुई। दूसरा वह मिथ्यादृष्टि है जो एक बार सम्यक्त्व प्राप्त कर चुकता है पर वापस नीचे आ जाता है। इन दोनो के कर्म-बन्ध म अन्तर होता है। पहला मिथ्यादृष्टि (जिसने सम्यक्त्व का कभी संस्पर्श नही किया) तीव्र एवं प्रगाढ कर्म-बन्ध करता है। सम्यक्दृष्टि से पतित मिथ्यादृष्टि उतना तीव्र तथा प्रगाढ कर्म बन्ध नही करता। इसका कारण यह है कि जो जीवन म एक बार सम्यक्त्व पा जाता है उसकी संस्कार धारा म हलकी सी ही सही, एक ऐसी सत्त्वोन्मुखी रेखा खचित हो जाती है जो उसके आत्म-परिणामो को उतना मलीमस नही होने देती, जितने मिथ्यादृष्टि के होते ह।

[२६८]

सागरोपमकोटीना कोटयो मोहस्य सप्तति ।
अभिन्नग्रन्थिबन्धो यन्न त्वेकोऽपीतरस्य तु ॥

जिसके ग्रन्थि भेद नही होता उसके सत्तर कोडाकोड सागर की स्थिति वाले मोहनीय कर्म का बन्ध होता है। जिसके ग्रन्थि भेद हो चुका

[२७२]

परापरसिको धीमान मार्गगामी महाशय ।
गुणरागी तथेत्यादि सर्व तुल्य द्वयोरपि ॥

परोपकार म रस—हार्दिक अभिरुचि प्रवृत्ति म बुद्धिमत्ता—विवेक शीलता धर्म मार्ग का अनुसरण भावों म उदात्तता उदारता तथा गुणों म अनुराग—य सब बोधिसत्त्व तथा सम्यक्दृष्टि—दोनों म समान रूप स प्राप्त होते हैं ।

[२७३]

यत सम्यग दर्शन बोधिस्तत्प्रधानो महोदय ।
सत्त्वोऽस्तु बोधिसत्त्वस्तद्धन्तपोऽन्वयतोऽपि हि ॥

सम्यक दर्शन तथा बोधि वास्तव म एक ही वस्तु है। बोधिसत्त्व वह पुरुष होता है जो बोधियुक्त हो कल्याण पथ पर सम्यक गतिशील हो। सम्यक्दृष्टि का भी इसी प्रकार का शाब्दिक अर्थ है।

[२७४]

वरबोधि समेतो वा तीर्थकृद यो भविष्यति ।
तथा भव्यत्वतोऽसौ वा बोधिसत्त्व सता मत ॥

अथवा सत्पुरुषों ने—प्रबुद्ध जनों न यो भी माना है—जो उत्तम बोधि म युक्त होता है भव्यता के कारण अपनी मोक्षाद्दिष्ट यात्रा म आगे चलकर तीर्थ कर पद प्राप्त करता है वह बोधिसत्त्व है।

[२७५]

सांसिद्धिकमिद ज्ञेय सम्यक चित्र च देहिनाम ।
तथा कालादिभदन बीजसिद्ध यादिभावत ॥

भव्यात्माओं का भव्यत्व भाव अनादिकाल स सम्यक सिद्ध है। अनुकूल समय स्वभाव नियति कर्म प्रयत्न आदि कारण समवाय के मिलन पर वह बीज सिद्धि के रूप म प्रकट होता है। जैसे समय पाकर बीज वृक्ष बन जाता है उसी प्रकार वह विकास करता जाता है उत्तरोत्तर उन्नत होते—बढते गुणस्थानों द्वारा ऊँचा उठता जाता है। -

[२७६]

सवथा योग्यताभेदे तदभावोऽन्यथा भवेत ।
निमित्तनामपि प्राप्तिस्तुल्या यत्तन्नियोगत ॥

सभी जीवो मे मूलत ज्ञान दशन, चारित्र वीर्य उपयोग आदि गुण एक समान है। ऐसा होते हुए भी कुछ जीवो को उनका विकास सवर्धन आदि करने की अनुकूलता प्राप्त होती है, कुछ को नहीं। उसका कारण आत्मा की भव्यत्वरूप योग्यता है जिसके कारण आत्मा को इन गुणो का विकास करने का सुअवसर प्राप्त होता है जिसके न होने पर यह अवसर नही मिलता।

एक बात और, निमित्त भी जीवन मे सभी को प्राय एक जैसे प्राप्त होते है किन्तु किन्ही को उनसे लाभ उठाने का अवसर मिलता है किन्ही को नही। इसका कारण भी भव्यत्व ही है। ऐसा न मानने पर अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है।

[२७७]

अन्यथा योग्यताभेद सवथा नोपपद्यते ।
निमित्तोपनिपातोऽपि यत तदाक्षेपतो ध्रुवम् ॥

यदि उपयुक्त स दभ मे अन्य प्रकार से माना जाए तो आत्मा की योग्यता का भेद—भिन्न भिन्न आत्माओ का अपनी अपनी विशेष योग्यता सिद्ध नही होती। फलत उनके काय कलाप एव फल निष्पत्ति मे भेद नही होना चाहिए। निमित्तोपलब्धि का फल भी सबके लिए एकसा होना चाहिए। पर ये दोनो ही अघटित है। अत आत्मा की भव्यत्वरूप योग्यता का स्वीकार आवश्यक है।

[२७८]

योग्यता चेह विज्ञेया बीजसिद्ध याद्यपेक्षया ।
आत्मन सहजा चित्रा तथा भव्यत्वमित्यत ॥

सम्यक्दशन आत्मविकास का बीज है। वह जिसमे सिद्ध होता है वह आत्मा का मोक्षोपयोगी सहज योग्यता है भव्यत्वरूप है जिसमे आत्मा की विकासप्रवण विविध स्थितियाँ निष्पन्न होती है।

[२७९]

वरबोधेरपि ऽपायात सिद्धिर्नो हेतुभेदत ।
फलभेदो यतो युक्तस्तया व्यवहितादपि ॥

आत्म विकास के सन्दर्भ म जो सिद्धि—सफलता प्राप्त होती ह, उसका मूल कारण उत्तम बोधि—सम्यक्त्व-संपृक्त सद्ज्ञान ह। अध्यात्म विकास की विभिन्न स्थितियों की निष्पन्नता म बाह्य हेतुओं का भेद प्रमुख भूमिका नहीं निभाता। ऐसा भी होता ह बाह्य हेतु व्यवहित है—व्यवधान युक्त है साक्षात रूप म असम्बद्ध ह फिर भी वसी फल निष्पत्ति होती है जो उसकी साक्षात्सम्बद्धता म सम्भाव्य मानी जाती ह। यदि बाह्य हेतु ही मुख्य होता तो वैसा नहीं होना चाहिए था।

साराश यह ह कि फल निष्पत्ति की मौलिक हेतुमत्ता बाह्य म नहीं स्व में है।

[२८० ८१]

तथा च भिन्ने दुर्भेदे कर्मग्रन्थिमहाचले ।
तीक्ष्णेन भाववज्रेण बहुसंक्लेशकारिणि ॥
आनन्दो जायतेऽत्यन्त तात्त्विकोऽस्य महात्मन ।
सद्व्याध्यभिभवे यद्वद् व्याधितस्य महौषधात ॥

अत्यन्त कष्टप्रद कर्म-ग्रन्थि रूपी दुर्भेद्य भारी पर्वत जब तीक्ष्ण भाव रूपी वज्र से टूट जाता है—मोहमयी दुर्भेद्य कर्म-ग्रन्थि जब उज्ज्वल आत्म परिणामों द्वारा भिन्न हो जाती है, खुल जाती है तब उत्तम औषधि द्वारा रोग मिटने पर रोगपीडित पुरुष को जैसे अत्यन्त आनन्द होता है, उसी प्रकार साधक को तात्त्विक—परपदार्थ निरपेक्ष आत्मप्रसूत दिव्य आनन्द की विपुल अनुभूति होती है।

[२८२]

भेदोऽपि चास्य विज्ञेयो न भूयो भवन तथा ।
तीव्रसंक्लेशविगमात सदा निःश्रेयसावह ॥

ग्रन्थि भेद होने से आत्मा को अपरिमाम आनन्द तो होता ही है साथ ही साथ एक और विशेषता निष्पन्न होती है—तीव्र संक्लेश या तीव्र राग का अपगम हो जाने से मोहनीय कर्म के अति तीव्र एव प्रगाढ बन्ध

[२९५]

विशेष चास्य मन्यते ईश्वरानुग्रहादिति ।
प्रधानपरिणामात् तु तथाऽन्ये तत्त्ववादिनः ॥

कई दार्शनिक वसी स्थिति प्राप्त होने में ईश्वर का अनुग्रह स्वीकार करते हैं अर्थात् ईश्वर की कृपा से य सब प्राप्त होते है ऐसा मानते हैं तथा तत्त्ववादी प्रकृति के परिणमन विशेष म इनके सधने की बात करते हैं।

[२९६]

तत्तत्स्वभावता मुक्त्वा नोभयत्राप्यदो भवेत् ।
एवं च कृत्वा ह्यत्रापि हेतवव निबन्धनम् ॥

यदि आत्मा का वसा स्वभाव न हो तो उपयुक्त दोनों ही बातें— ईश्वरानुग्रह तथा प्रकृति का परिणमन विशेष फलित नहीं होते। जिसका विविध रूपों म जैसा परिणत होने का स्वभाव हो अपनी उपादान-सामग्री से उसने विपरीत स्थिति अन्यों द्वारा नहीं लाई जा सकती। अत आत्म स्वभावता इसका मुख्य कारण है।

[२९७]

आध्य व्यापारमाश्रित्य न च दोषोऽपि विद्यते ।
अत्र माध्यस्थ्यमालम्ब्य यदि सम्यग् निरूप्यते ॥

यदि माध्यस्थ्य भाव—तटस्थ वृत्ति का अवलम्बन कर सम्यक् निरूपण करें शब्दों के बजाय अर्थ-व्यापार—मूल तात्पर्य को लेकर विचार करें तो किसी अपेक्षा से इसमें दोष भी नहीं आता।

[२९८]

गुणप्रकर्षरूपो यत् सर्वैर्वन्द्यस्तथेष्यते ।
देवतातिशयः कश्चित् स्तवादेः फलदस्तथा ॥

प्रकृष्ट—उत्कृष्ट विशिष्ट गुणयुक्त सब द्वारा वन्दनीय देव विशेष का स्तवन—वन्दन पूजन आदि करने का तदनुरूप फल समाश्रित है, यह बात एक दृष्टि से मानने योग्य है।

टीकाकार ने प्रस्तुत सन्दर्भ में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि देवोपासक को जो फल प्राप्त होता है, वह वस्तुत उस साधक द्वारा किये गये वन्दन पूजन आदि सदनुष्ठान का फल है। वन्दन, देवोद्दिष्ट होते हैं। अत उद्दिष्टता या लक्ष्य की दृष्टि से वह देव प्रसाद है अभिप्रायश ऐसा समझा जा सकता है।

[२९९]

भवश्चाप्यात्मनो यस्माद् चित्रशक्तिकात ।
कर्माद्यभिधानादेर्ना यथाऽतिप्रसङ्गत ॥

चित्रशक्तिक—विविध शक्तियुक्त—भिन्न भिन्न प्रकार की उत्पन्न करने में समर्थ कर्म आदि जब आत्मा को अनेक रूप में परिणत करते हैं वहाँ भी आत्मा की अपनी योग्यता या स्वभाव का साहचर्य है ही जिसके बिना वे (कर्म आदि) फल निष्पत्ति नहीं कर पाते। फिर भी उन (कर्म आदि) द्वारा वैसा किया जाना निरूपित होता है। इस अपेक्षा से उपर्युक्त मान्यता में भी बाधा नहीं आती।

कालातीत का मन्तव्य—

[३०० ३०७]

माध्यस्थ्यमवलम्ब्यैवमैदम्पर्यव्यपेक्षया ।
तत्त्वं निरूपणीयं स्यात् कालातीतोऽप्यदोऽब्रवीत् ॥
अन्येषामप्ययं मार्गो मुक्ताविद्यादिवादिनाम् ।
अभिधानादिभेदेन तत्त्वनीत्या व्यवस्थित ॥
मुक्तो बुद्धोऽर्हन् वाऽपि यदैश्वर्येण समन्वित ।
तदीश्वर स एव स्यात् संज्ञाभेदोऽत्र केवलम् ॥
अनादिशुद्ध इत्यादिर्यश्च भेदोऽस्य कल्प्यते ।
तत्तत्तन्त्रानुसारेण मन्ये सोऽपि निरर्थक ॥
विशेषस्यापरिज्ञानाद् युक्तीनां जातिवादत ।
प्रायो विरोधतश्चैव फलाभेदाच्च भावत ॥
अविद्या क्लेश कर्मादि यतश्च भवकारणम् ।
तत प्रधानमेवैतत् संज्ञाभेदमुपागतम् ॥

अत्रापि योऽपरो भवहिष्णोपाधिस्तथा तथा ।
मोक्षे ऽतीतहेतुभ्यो धीमतां सोऽप्यपार्थकः ॥
ततोऽस्यानप्रयासोऽयं यत् तद्भवनिरूपणम् ।
सामान्यमनुमानस्य यतश्च विषयो मतः ॥

साधकस्य भाव का आलम्बन करते हुए उद्दिष्ट विषय का यथार्थ अभिप्राय ध्यान में रखते हुए तत्वनिरूपण करना चाहिए। आचार्य कालातीत ने भी ऐसा ही कहा है—

मुक्तात्मवादी—आत्मा को नित्य, निरन्तर मुक्त मानने वाले अविद्यावादी—आत्मा को अविद्यावच्छिन्न मानने वाले अन्य तत्ववादियों द्वारा स्वीकृत माना गया है। केवल अभिधान—अभिव्यक्ति आदि का भेद यहाँ है। मुक्त-व्यवस्था में भेद नहीं है।

जो ईश्वर—ईश्वरता—असाधारण शक्तिमत्ता के कारण से युक्त माना जाता है वह मुक्त बद्ध अर्हत् आदि जिस किसी नाम से संबोधित किया जाए ईश्वर है।

क्या परमात्मा या ईश्वर अनादिकाल से शुद्ध है क्या ऐसा नहीं है?—इत्यादि रूप से भेद विकल्प—तर्क वितर्क या वाद विवाद जो भिन्न भिन्न मतवादियों द्वारा किया जाता है वह वस्तुतः निरर्थक है।

परमात्मा के सम्बन्ध में हम अपरिज्ञात हैं—व्यापक ज्ञान नहीं है। इस सम्बन्ध में जो युक्तियाँ दी जाती हैं वे प्रातिजनक हैं परस्पर विरुद्ध हैं। मत भिन्नता के बावजूद फल में, लक्ष्य में सबमें अभिन्नता है। फिर विवाद की क्या सार्थकता?

अविद्या, क्लेश, कर्म आदि को संसार का कारण माना गया है। वह वास्तव में प्रकृति ही है। केवल नामान्तर का भेद है।

प्रकृति को केन्द्रबिन्दु में प्रतिष्ठित कर किये गये इस विवेचन से प्रतीत होता है कालातीत सांख्ययोगाचार्य थे।

भिन्न भिन्न उपाधि—अभिधान आदि द्वारा उसके जो अन्यान्य भेद किये जाते हैं, उन्हें मानने का कोई यथार्थ प्रयोजन या हेतु नहीं है। बुद्धिमानों के लिए वे निरर्थक हैं।

[३१२]

आत्मनां तत्स्वभावत्वे प्रधानस्यापि संस्थिते ।
ईश्वरस्यापि सन्न्यायाद विशेषोऽधिकृते भवेत ॥

जैसा कि माना गया है आत्माओं का अपना स्वभाव है उसी प्रकार प्रकृति का एवं ईश्वर का भी अपना अपना स्वभाव है। ऐसा होने के कारण आत्मा का तीर्थंकर गणधर या मुण्डकेवली पद प्राप्त करना, उस रूप में परिणत होना सर्वथा तर्कसंगत है।

[३१३]

सांसिद्धिक च सर्वेषामेतदाहुर्मनीषिण ।
अन्ये नियतभावत्वाद यथा न्यायवादिन ॥

नाना जन बताते हैं कि ईश्वर, प्रकृति तथा आत्मा का कार्य व्यापार सांसिद्धिक—अपने अपने स्वभावगत संस्कार से सिद्ध है—क्रियानुगत है। कई न्यायवादी—तार्किक नियत भाव के आधार पर ऐसा होना प्रतिपादित करते हैं अर्थात् वैसा होना था, इसलिए हुआ ऐसा उनका अभिमत है।

[३१४]

सांसिद्धिकमदोऽप्येवमन्यथा नोपपद्यते ।
योगिनो वा विजानन्ति किमस्थानग्रहणेन न ॥

वह नियत भाव भी एक प्रकार से सांसिद्धिक ही है। क्योंकि जिस वस्तु में जिस रूप में परिणत होने का स्वभाव नहीं होता वह उस रूप में कभी परिणत नहीं हो सकती। नियत भाव भी वस्तु के स्वभाव के अनुकूल ही कार्यकर होता है, प्रतिकूल नहीं। योगी इस सम्बन्ध में सम्यक रूप से जानते हैं क्योंकि वे अपने दिव्य ज्ञान द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों को साक्षात् देखते हैं। इसलिए सामान्य जनों को इस पर विवाद करना उचित नहीं।

[३१५][1]

अस्थाने रूपमन्धस्य यथा सन्निश्चयं प्रति ।
तथातीन्द्रिय वस्तु छद्मस्थस्यापि तत्त्वत ॥

अन्धे को रूप दिखलाना तथा उस सम्बन्ध में उससे निर्णय लेना अनुचित है। नेत्रहीन जो किसी वस्तु को देख ही नहीं सकता वह उसके विषय में कैसे निर्णय कर सकता है। उसी प्रकार अतीन्द्रिय—जो इन्द्रियों द्वारा गृहीत नहीं की जा सकती वस्तु के सम्बन्ध में अल्पज्ञ पुरुष निर्णय नहीं कर सकता।

[३१६]

हस्तस्पर्शसमं शास्त्रं तत एव कथञ्चन ।
अत्र तन्निश्चयोऽपि स्यात् तथा चन्द्रोपरागवत् ॥

अन्धा मनुष्य जैसे हाथ से छूकर किसी वस्तु के सम्बन्ध में अनुमान करता है उसी प्रकार शास्त्र के सहारे व्यक्ति आत्मा, कर्म आदि पदार्थों के विषय में कुछ निश्चय कर पाता है।

ग्रहण के समय चन्द्रमा राहु द्वारा किस सीमा तक ग्रस्त हुआ है, यह जानने हेतु कुछ कुछ काले किये हुए काँच द्वारा उसे देखा जाता है। उसी प्रकार शास्त्र द्वारा इन्द्रियातीत पदार्थ के सम्बन्ध में जानने का प्रयत्न लगभग ऐसा ही है।

[३१७]

ग्रहः सर्वत्र सत्याज्यः तद्गम्भीरेण चेतसा ।
शास्त्रगर्भः समालोच्यो ग्राह्यश्चेष्टार्थसङ्गतः ॥

साधक को चाहिए कि वह देव, गुरु, धर्म, आत्मा, परमात्मा आदि के सम्बन्ध में दुराग्रह का सर्वथा परित्याग कर, शास्त्रों में जो कहा गया है, उस पर गम्भीर चित्त से विचार करे तथा कार्यकारिता लक्षण, इष्ट-सिद्धि की दृष्टि से जो समीचीन प्रतीत हो उसे ग्रहण करे।

भाग्य तथा पुरुषार्थ—

[३१८]

दैवं पुरुषकारश्च तुल्यावेतदपि स्फुटम् ।
एवं व्यवस्थिते तत्त्वे युज्यते न्यायतः परम् ॥

भाग्य और पुरुषकार—पुरुषार्थ एक समान ही हैं, यह भी वास्तव

व्यवस्थित मानने पर—वस्तुओं को उनके विशेष स्वभाव के साथ स्वीकार करने पर ही मुक्तियुक्त सिद्ध होता है।

[३१६]

दव नामेह तत्त्वत कर्मैव हि शुभाशुभम ।
तथा पुरुषकारश्च स्वव्यापारो हि सिद्धिद ॥

अतीत में किये गये शुभ या अशुभ कर्म ही तत्त्वत भाग्य है। वे (कर्म) यदि शुभ हो तो सौभाग्य के रूप मे और यदि अशुभ हो तो दुर्भाग्य के रूप म फलित होते हैं। पुरुषाथ वतमान कम व्यापार—क्रिया प्रक्रिया है, जो यथावत् रूप म किये जाने पर सफलता देता है।

[३२०]

स्वरूप निश्चयेनैतदनयोस्तत्त्ववदिन ।
ब्रुवते व्यवहारेण चित्रम यो यसमाश्रयम ॥

तत्त्ववत्ता भाग्य और पुरुषाथ—दोनो का स्वरूप निश्चय-दृष्टि स उपयुक्त रूप म बतलाते हैं। भाग्य तथा पुरुषार्थ विचित्र रूप म—अनेक प्रकार से एक दूसरा पर आश्रित हैं ऐसा वे (तत्त्ववेत्ता) व्यवहार-दृष्टि स प्रतिपादित करते हैं।

[३२१]

न भवस्यस्य यत् कम बिना व्यापारसभव ।
न च व्यापारशू यस्य फल स्यात कमणोऽपि हि ॥

जो व्यक्ति ससार म है पूव सचित कम के बिना उसका जीवन-व्यापार नही चलता। जब तक वह कम-व्यापार म सलग्न नहीं होता—कम प्रवृत्त नही होता तब तक सचित कम का फल प्रकट नहीं होता।

[३२२]

व्यापारमात्रात् फलद निष्फल महतोऽपि च ।
अतो यत कम तद दव चित्र ज्ञेय हिताहितम ॥

कभी ऐसा होता है, थोडा सा प्रयत्न करते ही सफलता मिल जाती है और कभी बहुत प्रयत्न करन पर भी सफलता प्राप्त नही होती। इसका

न करने पर अपना फल नहीं देता अतः भाग्य तथा पुरुषार्थ का जो पहले स्वरूप बताया गया है, वही वास्तविक है।

[३२७]

दैवं पुरुषकारेण दुर्बलं ह्युपहन्यते ।
दैवेन चैषोऽपीत्येतन्नान्यथा चोपपद्यते ॥

भाग्य जब दुर्बल होता है तो वह पुरुषार्थ द्वारा उपहत हो जाता है—प्रभावशून्य कर दिया जाता है। जब पुरुषार्थ दुर्बल होता है तो वह भाग्य द्वारा उपहत कर दिया जाता है। यदि भाग्य और पुरुषार्थ शक्तिमत्ता में असमान न हों तो यह पारस्परिक उपहनन—एक दूसरे को दबा लेने का क्रम संभव नहीं होता।

[३२८]

कर्मणा कर्ममात्रस्य नोपघातादि तत्त्वतः ।
स्वव्यापारगतत्वे तु तस्यैतदपि युज्यते ॥

वस्तुतः कर्म द्वारा कर्म का उपघात नहीं होता। जब वे कर्म अतीत एवं वर्तमान आदि अवस्थाओं में आत्मा के साथ सम्बद्ध होते हैं, तभी परस्पर उपघात संभव होता है।

[३२९]

उभयोस्तत्स्वभावत्वात् तत्तत्कालाद्यपेक्षया ।
बाध्यबाधकभावः स्यात् सम्यग्न्यायाविरोधतः ॥

भाग्य तथा पुरुषार्थ का अपना अपना स्वभाव है। भिन्न भिन्न काल आदि की अपेक्षा से उनमें बाध्य बाधक भाव आता है।

जो बाधित या उपहत करता है, वह बाधक कहा जाता है, जो बाधित या उपहत होता है वह बाध्य कहा जाता है। इनका पारस्परिक सम्बन्ध बाध्य बाधक भाव है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में सम्यक्तया युक्तिपूर्वक विचार किया जाए तो निर्बाधरूप में वस्तु का यथार्थ बोध प्राप्त होता है।

[३३०]

तथा च तत्स्वभावत्वनियमात् तत् कमणो ।
फलभावोऽन्यथा तु स्यान्न काङ्कटुपाकवत् ॥

कता तथा कम के अपने नियमानुगत—नियमित स्वभाव के कारण निश्चित फल की प्राप्ति होती है। यदि ऐसा न हो तो जैसे कोरडू—पत्थर की तरह स्वभावत कडा मूग बहुत प्रयत्न करने पर भी नहीं पकता उ प्रकार उनके कम-समवाय का फल नहीं आता। सबलता निबलता के कारण उपहत करने या उपहत होने की स्थिति नहीं बनती।

[३३१]

कर्मानियतभाव तु यत् स्याच्चित्र फल प्रति ।
तद् बाध्यमत्र दार्वादि प्रतिमायोग्यता समम् ॥

यदि कम का अनियत भाव—अनिश्चित स्वरूप माना जाए अर्थात् व कोई नियत—निश्चित फल नहीं देता, ऐसा स्वीकार किया जाए तो उस फल अनिवायतया विविध प्रकार के हो जायेंगे, जिसका क्या फल हो निश्चित ही नहीं रहेगी। यदि काष्ठ स्वय ही प्रतिमा की योग्यता प्रा करले, प्रतिमा हो जाए, तो उसम कौन बाधक हो, क्योंकि प्रस्तुत अभिमत अनुसार वस्तु की कोई नियतस्वभावात्मकता तो होती नहीं। इससे पुरु को भी कोई साथकता नहीं रहती।

[३३२]

नियमात् प्रतिमा नात्र न चातोऽयोग्यतव हि ।
तल्लक्षणनियोगन प्रतिमैवास्य बाधक ॥

निश्चय ही काष्ठ-फलक जब तक अपने रूप म विद्यमान है प्र नहीं है। काष्ठ-फलक मे प्रतिमा होने की योग्यता है पर वैसी परिण लिए पुरुषार्थ चाहिए किन्तु वस्तु की अनियतभावात्मकता मान लें पुरुषाथ के अभाव मे भी नहीं कहा जा सकता कि वह प्रतिमा नहं सकती।

अपने लक्षण के आधार पर प्रतिमा ही इसमें बाधिका है कि विद्यमान काष्ठ-फलक प्रतिमा नहीं है क्योंकि प्रतिमा के लक्षण वहाँ नहीं मिलते।

[३३३]

> कार्यादे प्रतिमाक्षेपे तद्वत्व सवतो ध्रुव ।
> योग्यस्यायोग्यता वेति न चवा लोकसिद्धित ॥

यदि काष्ठ-फलक प्रतिमा बनने की योग्यता रखता है तो सर्वत्र अनिवार्यत वह प्रतिमा बने। नहीं बनता है तो उसकी योग्यता बाधित होती है। पर लोक में ऐसा प्राप्त नहीं होता। सभी काष्ठ-फलक प्रतिमा बन जाते हों ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता।

[३३४]

> कर्मणोऽप्येतदापेप दानादौ भावभेदतः ।
> फलभेद कथ नु स्यात तथा शास्त्रादिसङ्गत ॥

यदि कर्म पर भी इस सिद्धान्त को लागू किया जाए तो दान आदि पुण्य कार्यों का परिणाम भेद में भिन्न भिन्न फल आने का जो अपना नियत क्रम है, जो शास्त्रानुगत है वह भी नहीं टिक पाता।

[३३५]

> शुभात् ततस्त्वसौ भावो हन्तायं तत्स्वभावभाक् ।
> एव किमत्र सिद्ध स्यात् तत एवास्त्वतो ह्यद ॥

दान आदि पुण्य कार्य करते समय जो मन में शुभ भाव उत्पन्न होता है, वह अतीत में शुभ कर्मों का परिणाम है। पूर्व आचीर्ण कर्मों का जैसा स्वभाव होता है उनके अनुरूप ही भावों का स्वभाव होता है। अभी जो कर्म किये जाते हैं, कालान्तर में वे अतीत के कर्म होंगे, जिनके अनुरूप आगे भाव निष्पत्ति होगी।

यदि पूछा जाए इसमें क्या सिद्ध होता है, तो कथ्य तथ्य यह होगा कि शुभ कर्मों से शुभ भाव उत्पन्न होते हैं तथा शुभ भावों से शुभ कर्म।

[३३६]

तत्त्व पुनर्द्वयस्यापि तत्स्वभावत्वसंस्थितौ ।
भवत्येवमिद न्यायात तत्प्रधान्याद्यपेक्षया ॥

भाग्य और पुरुषार्थ—दोनों की स्थिति प्रधान-गौण भाव से अपने स्वभाव पर टिकी है। जब जो प्रधान—मुख्य या प्रबल होता है, तब वह दूसरे को उपहत कराता है—प्रभावित करता है या दबाता है।

[३३७]

एव च चरमावर्ते परमार्थेन बाध्यते।
दैव पुरुषकारेण प्रायशो व्यत्ययोऽन्यदा ॥

अन्तिम पुद्गल परावर्त में भाग्य पुरुषार्थ द्वारा वस्तुतः उपहत होता है और उससे पूर्ववर्ती पुद्गलावर्तों में पुरुषार्थ भाग्य द्वारा उपहत या पराभूत रहता है।

[३३८]

तुल्यत्वमेवमनयोर्व्यवहाराद्यपेक्षया ।
सूक्ष्मबुद्ध्या नयगन्तव्य न्यायशास्त्राविरोधत ॥

धर्मशास्त्र तथा तर्क के अनुसार, साथ ही साथ व्यावहारिक दृष्टि से भी भाग्य एवं पुरुषार्थ परस्पर तुल्य हैं व्यक्ति को सूक्ष्म बुद्धिपूर्वक यह समझना चाहिए।

[३३९]

एव पुरुषकारेण ग्रन्थिभेदोऽपि सगत ।
तदूर्ध्व बाध्यते दैव प्रायोऽयं तु विजृम्भते ॥

अन्तिम पुद्गल परावर्त में पुरुषार्थ द्वारा जो ग्रन्थि भेद की स्थिति आती है वह सर्वथा संगत है। उसमें ऊर्ध्ववर्ती विकास की यात्रा में गुणस्थानों के उत्थान क्रम में प्रायः पुरुषार्थ द्वारा दैव या भाग्य उपहत—बाधित रहता है।

[३४०]

अस्योऽपि पातुमार्गारित्वात प्रवृत्तिर्नासतो भवेत ।
मन्दप्रवृत्तिाच नियमाद् ध्रुव कर्मणयो यत ॥

या जीव की जब औचित्यानुसारी—धर्मसाधनोचित प्रवत्ति होने लगती है, वह असत कार्यों मे सलग्न नही होता । नियमपूर्वक श्रेष्ठ कार्यों म लगा रहता है, जिसमे उसके सचित कर्मों का क्षय हाता है ।

[३४१]

ससारादस्य निर्वेदस्तथोच्च पारमार्थिक ।
सज्ज्ञानचक्षुषा सम्यक् तन्नगु ण्योपलब्धित ॥

ज्ञान रूपी नेत्र द्वारा सम्यक्तया तत्त्वावलोकन करने पर साधक को इस जगत् म सुख, समाधि, शान्ति आदि गुण दिखाई नहा दत जन्म, वद्धा वस्था राग, शोक, मत्यु आदि ही दीखन लगते ह । इसालिए उस परमायत — यथार्थ रूप म ससार म वराग्य हो जाता है ।

[३४२]

मुक्तौ दृढानुरागश्च तथा तद्गुणसिद्धित ।
विपर्ययमहादु खबीजनाशाच्च तत्त्वत ॥

मुक्ति म उसका सुन्ढ अनुराग हा जाता है क्याकि वह मोक्षापयोगी गुणों को पहले ही सग्रहीत कर चुकता है तथा विपरीत ज्ञान रूप महादु ख के बाज को वास्तव म नष्ट कर चुकता है ।

[३४३]

एतस्यागारिनिसिद्ध यथमन्यथा तदभावत ।
अस्यौचित्यानुसारित्वमलमिष्टार्थसाधनम ॥

सासारिक प्रवृत्तिया का त्याग तथा मोक्ष प्राप्ति का लक्ष्य लिए साधक मोक्षानुरूप या अध्यात्म योग सगत काय विधि म प्रवृत्त रहता है, जिसम वह अपना इष्ट—आध्यात्मिक दृष्टि स अभीप्सित लक्ष्य साध लेता है । जा ऐसा नहीं करता वह ससार वद्धि करन वाली प्रवत्ति को छोड नहीं सकता ।

[३४४]

औचित्य भावतो ~ यत्र तत्राय सप्रवतते ।
उपदेश विनाऽप्युच्चरन्तस्तेनव ~ ~

जहाँ भावो मे औचित्य—उचित स्थिति, उज्ज्वलता, पवित्रता हो है वहाँ व्यक्ति बिना विशेष उपदेश के ही अन्तःप्रेरणा से स्वयं प्रेरित होकर सत्कार्य मे प्रवृत्त होता है।

[३४५]

अतस्तु भावो भावस्य तत्त्वत सम्प्रवर्तक ।
शिराकूपे पय इव पयोवृद्धे नियोगत ॥

वास्तव मे मनुष्य का एक पवित्र भाव दूसरे पवित्र भाव को उत्तरोत्तर उत्पन्न करता जाता है। जैसे कुए के भीतर भूमिवर्ती जल प्रणालिका द्वारा अनवरत जल वृद्धि होती रहती है उसी प्रकार यह पवित्र भाव-परपरा उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती रहती है—विकसित हो जाती है।

[३४६]

निमित्तमुपदेशस्तु पवनादिसमो मत ।
अनैकान्तिकभावेन सतामत्रैव वस्तुनि ॥

जैसे कुए की सफाई—जल प्रणालिका के समीपवर्ती पत्थर, कंकड़ आदि का हटाना जल-वृद्धि का निमित्त बनता है उसी प्रकार प्रस्तुत प्रसंग मे जैसा कि सत्पुरुष बतलाते हैं, अन्य का उपदेश निमित्त रूप मे प्रतीत होता है पर वह एकान्तिक रूप मे वैसा हो ही, यह बात नहीं है। पर सामान्यतया वैसा प्रेरणा करता है।

[३४७]

प्रवाताद् यदनुष्ठानादौचित्येनोत्तरं भवेत् ।
तदाश्रित्योपदेशोऽपि ज्ञेयो विध्यादिगोचर ॥

औचित्यपूर्ण सदनुष्ठान क्रियान्वित करने से आगे भी सदनुष्ठान मे प्रवृत्ति होती है। उस सदनुष्ठान पुरुष को उद्दिष्टकर शास्त्रविधि—शास्त्र-सम्मत आचार के सम्बन्ध मे उपदेश किया जाए—यह जानना चाहिए।

[३४८]

प्रवृत्तैर्बाल्यनुगुण्येन चित्र सद्भावसाधन ।
[illegible] ॥

गंभीर उक्ति द्वारा शास्त्राध्ययनपूर्वक—शास्त्र के उद्धरण प्रस्तुत करते हुए परिमित शब्दों में श्रोता की प्रकृति के गुणानुरूप दिया गया उपदेश उनमें अनेक प्रकार से सात्त्विक भाव उत्पन्न करने का हेतु बनता है।

[३४६]

शिरोदकसमो भाव आत्मन्येव व्यवस्थित ।
प्रवृत्तिरस्य विज्ञेया चाभिव्यक्तिस्ततस्तत ॥

जैसे कुएं की अन्तर्वर्ती जल प्रणालिका जल का मूल स्रोत है मूलतः जल वहीं होता है बाह्य साधन प्रयत्न उसे अभिव्यक्ति देते हैं—प्रकट करते हैं। वैसे ही सात्त्विक उत्तमभाव वास्तव में आत्मा में ही विशेष रूप में अवस्थित हैं साधना के उपक्रम उन्हें अभिव्यक्त करते हैं।

[३५०]

सत्त्वयोपशमात् सर्वमनुष्ठान शुभ मतम ।
क्षीणससारचक्राणा ग्रन्थिभेदादय यत ॥

जिनका ससार चक्र—जन्म मरण का चक्र ग्रन्थि भेद हो जाने से लगभग क्षीण होने के समीप होता है सत्त्वयोपशम के कारण उनके सभी अनुष्ठान शुभ माने गये हैं।

[३५१]

भाववृद्धिरतोऽवश्य सानुबन्ध शुभोदयम् ।
गीयतेऽन्यरपि ह्येतत सुवर्णघटसन्निभम् ॥

उनमें अवश्य ही पवित्र भावों की वृद्धि होती है जो पुण्य पूर्ण परंपरा की शृंखला के रूप में आगे चलती रहती है। अन्य सैद्धान्तिकों ने इसे स्वर्णघट के समान बताया है टूटने पर भी जिसका मूल्य कम नहीं होता।

एवं तु वर्तमानोऽस्य चारित्री जायते ततः ।
पल्योपमपृथक्त्वेन विनिवृत्तेन कर्मणः ॥

पूर्वोक्त सदनुष्ठान में प्रवृत्त साधक के जब दो से नौ पल्योपम के मध्य की कोई एक अवधि परिमित कर्म विनिवृत्त हो जाते हैं—वह छुटकारा पा लेता है, तब चारित्री होता है।

यहाँ प्रयुक्त 'पल्योपम' शब्द एक विशेष अति दीर्घकाल का है। जैन वाङ्मय में इसका बहुलता से प्रयोग हुआ है।

पल्य या पल्ल का अर्थ कुआ या अनाज का बहुत बड़ा कोठा। उसके आधार पर या उसकी उपमा से काल गणना की जाने के कारण यह कालावधि 'पल्योपम' कही जाती है।

पल्योपम के तीन भेद हैं—१ उद्धार पल्योपम २ अद्धा पल्योपम ३ क्षेत्र पल्योपम।

उद्धार-पल्योपम—कल्पना करें, एक ऐसा अनाज का कोठा या कुआ हो जो एक योजन (चार कोस) लम्बा, एक योजन चौड़ा और एक योजन गहरा हो। एक दिन से सात दिन की आयु वाले नवजात यौगलिक शिशु के बालों के अत्यन्त छोटे टुकड़े किए जाएँ, उनसे ठूँस ठूँस कर उस कोठे या कुएँ को अच्छी तरह दबा दबा कर भरा जाए। भराव इतना सघन हो कि अग्नि उन्हें जला न सके, चक्रवर्ती की सेना उन पर से निकल जाय तो एक भी कण इधर से उधर न हो सके, गंगा का प्रवाह बह जाय तो उन पर कुछ असर न हो सके। यों भरे हुए कुएँ में से एक एक समय में एक एक बाल-खण्ड निकाला जाय। यों निकालते निकालते जितने काल में वह कुआ खाली हो, उस काल-परिमाण को उद्धार पल्योपम कहा जाता है। उद्धार का अर्थ निकालना है। बालों के उद्धार या निकाले जाने के आधार पर इसकी संज्ञा उद्धार पल्योपम है। यह संख्यात समय परिमाण माना जाता है।

उद्धार पल्योपम के दो भेद है—सूक्ष्म एव व्यावहारिक । उपयुक्त गन व्यावहारिक उद्धार पल्योपम का है। सूक्ष्म उद्धार-पल्योपम इस ार है—

व्यावहारिक उद्धार-पल्योपम म कुए को भरन म यौगलिक शिशु बालो के टकडा की चर्चा आयी है, उनमे म प्रत्येक टुकडे के असख्यात, दश्य खण्ड किए जाए। उन सूक्ष्म खण्डा से पूव वर्णित कुआ ठूस ठूस कर रा जाए। वसा कर लिए जाने पर प्रतिसमय एक-एक खण्ड कुए मे स ाला जाय। यो करते-करते जितने काल म वह कुआ बिलकुल खाली ा जाय उस काल-अवधि को सूक्ष्म उद्धार पल्योपम कहा जाता है। इसम ख्यात वप कोटि परिमाण काल माना जाता है।

अद्धा पल्योपम—अद्धा देशी शब्द है जिसका अथ काल या समय है। ागम के प्रस्तुत प्रसग मे जो पल्योपम का जिक्र आया है, उसका आशय सा पल्योपम स है। इसकी गणना का क्रम इस प्रकार है—यौगलिक के ालों के टुकडा से भर हुए कुए मे स सौ सौ वप म एक एक टुकडा निकाला ाय। इम प्रकार निकालते निकालत जितने काल मे वह कुआ बिलकुल ाली हो जाय, उस कालावधि को अद्धा पल्योपम कहा जाता है। इसका रिमाण सख्यात वप कोटि है।

अद्धा पल्योपम भी दो प्रकार का होता है—सूक्ष्म और व्यावहारिक। हाँ जो वणन किया गया है, वह व्यावहारिक अद्धा-पल्योपम का है। जिस प्रकार सूक्ष्म उद्धार पल्योपम मे यौगलिक शिशु के बालो के टकडा के असख्यात अदश्य खण्ड किए जान की बात है, तत्सदृश यहाँ भी वस ही असख्यात अदृश्य केश खण्डा स वह कुआ भरा जाय। प्रति सौ वप म एक खण्ड निकाला जाय। यो निकालते निकालते जब कुआ बिलकुल खाली हो जाय वसा होन मे जितना काल लगे, वह सूक्ष्म अद्धा-पल्योपम कोटि मे आता है। इसका काल-परिमाण असख्यात वप कोटि माना गया है।

क्षत्र-पल्योपम—ऊपर जिस कुए या धान्य के विशाल कोठ की चर्चा है, यौगलिक के बाल खण्डा स उपयुक्त रूप मे दबा-दबा कर भर दिये जान पर भी उन खडो के बीच म आकाश प्रदश—रिक्त स्थान रह जाते है।

एक एक प्रदेश निकालने की यदि कल्पना की जाय तथा या निकालते निकालते जितने काल में वह कुआ समग्र आकाश-प्रदेशों से रिक्त हो जाए वह कालपरिमाण सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम है। इसका भी कालपरिमाण असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी है। व्यावहारिक क्षेत्र पल्योपम से इसका काल असंख्यात गुना अधिक होता है।[1]

दस कोडाकोड पल्योपम को सागरोपम कहा जाता है। अर्थात् दस करोड़ पल्योपम का एक करोड़ पल्योपम से गुणा करने से जो गणनफल आता है, वह एक सागरोपम है।[2]

[३८३]

लिङ्ग मार्गानुसार्येव श्राद्ध प्रज्ञापनाप्रिय ।
गुणरागी महासत्त्व सच्छक्यारम्भसगत ॥

अध्यात्म-पथ का अनुसरण श्रद्धा, धर्मोपदेश श्रवण में अभिरुचि, गुणों में अनुराग सदनुष्ठान में पराक्रमशीलता तथा यथाशक्ति धर्मानुपालन ये चारित्र के लक्षण हैं।

[३५४ ३५५]

असातोदयशून्योऽन्ध कान्तारपतितो यथा ।
गर्तादिपरिहारेण सम्यक् तत्राभिगच्छति ॥

तथाऽय भवकान्तारे पापादिपरिहारत ।
श्रुतचक्षुर्विहीनोऽपि सत्सातोदयसयुत ॥

गहन वन में भटका हुआ अन्धा पुरुष जिसके असात वेदनीय—दुःख प्रद कर्मों का उदय नहीं है, खड्ड आदि से बचता हुआ सही सलामत अपने मार्ग पर चलता जाता है उसी प्रकार ससाररूपी भयावह वन में भटकता हुआ वह पुरुष, जिसके सात-वेदनीय—सुखप्रद कर्मों का उदय है अपने को पापों से बचाता हुआ शास्त्र ज्ञानरूपी नेत्र से रहित होते हुए भी धर्म पथ पर गतिशील रहता है।

---

1 अनुयोगद्वार सूत्र १३८ १४० तथा प्रवचन सारोद्धार द्वार १५८ में पल्योपम का विस्तार से विवेचन है।

2 स्थानांग सूत्र २ ४ ९९

आता है वह (चरम पुद्गल परावर्त से पूर्व का अन्तिम आवर्त) सुप्त आवर्त या सद्गुन आवर्तन कहा जाता है।

[३७१]

चारित्रिणस्तु विज्ञेय शुद्धयपेक्षो यथोत्तरम् ।
ध्यानादिरूपो नियमात् तथा तात्त्विक एव तु ॥

चारित्री को ध्यान समता तथा वृत्तिसंक्षय सज्ञक योग उत्तरी शुद्धि-आन्तरिक निर्मलता के अनुरूप निश्चित रूप मे प्राप्त होते हैं। वे तात्त्विक होते हैं।

[३७२]

अस्यैव त्वनपायस्य सानुबन्धस्तथा स्मृत ।
यथोदितक्रमेणैव सापायस्य तथा परः ॥

अपाय—विघ्न या साधनाविपरीत स्थिति स जो बाधित नहीं हैं उनको उत्तरवर्ती विकास शृंखला सहित यथावत रूप म योग प्राप्त होता है।

जो अपाययुक्त है उनके लिए ऐसा नहो होता है।

[३७३]

अपायमाहु कर्मैव निरपाया पुरातनम् ।
पापाशयकर चित्र निरुपक्रमसंज्ञकम् ॥

अपायरहित—निर्विघ्नरूप मे साधना-परायण महापुरुषा न पूर्व मे सचित पापाशयकर हिंसा, असत्य चौर्य लाभ, अहकार, छल कपट द्वेष, व्यभिचार आदि स सम्बद्ध विविध कर्मों को अपाय कहा है। वे निरुपक्रम संज्ञा स भी अभिहित हुए हैं। उनका फल अवश्य भोग्य होता है।

[३७४]

कण्टकज्वरमोहैस्तु समो विघ्न प्रकीर्तित ।
मोक्षमार्गप्रवृत्तानामत एवापरैरपि ॥

अन्य विचारकों ने भी मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त साधकों के लिए कण्टक-[illegible] ज्वर विघ्न तथा मोह विघ्न के रूप में आनेवाली बाधाओं की चर्चा [illegible] है।

राहगीर के पैर में काँटा चुभ जाए तो उसकी गति रुक जाती है [illegible]दि वह यात्रा के बीच में ज्वर ग्रस्त हो जाए तो भी आगे चलने में बाधा [illegible]आजाता है और यदि वह दिग्भ्रान्त हो जाए—उसे दिशाओं का यथावत [illegible]ज्ञान न रहे तो आगे चलना कठिन हो जाता है, ऐसा ही विघ्नपूर्ण स्थितियाँ [illegible]साधक के समक्ष आती हैं, जिन्हें उसे पार करते हुए आगे बढ़ना [illegible]होता है।

सास्रव अनास्रव—

[३७५]

अस्यैव सास्रव: प्रोक्तो बहुजन्मान्तरावहः ।
पूर्वव्यावर्णित यायादेकजन्मा त्वनास्रव: ॥

योग का पूर्व-वर्णित एक भेद सास्रवयोग है जो उस साधक के सधता है, जिसके अन्तिम मंजिल—मोक्ष तक पहुँचने में अभी अनेक जन्म पार करना बाकी होता है।

पहले किये गये विवेचन के अनुसार निरास्रव-योग उस साधक के सधता है, जिसे केवल एक ही जन्म में से गुजरना होता है आगे जन्म नहीं लेना पड़ता।

[३७६]

आस्रवो बन्धहेतुत्वाद् बन्ध एवेह सम्मतः ।
स सांपरायिको मुख्यस्तदेयोऽर्थोऽस्य सगतः ॥

आस्रव कर्म बन्ध का हेतु है, इसलिए एक दृष्टि से वह बन्ध ही है। वस्तुतः कर्म बन्ध का मुख्य कारण कषाय—कषायानुप्रेरित आस्रव है। बन्ध के साथ उसी की वास्तविक संगति है।

[३७७]

एवं चरमदेहस्य सम्परायवियोगतः ।
इत्वरास्रवभावेऽपि स तथाऽनास्रवो मतः ॥

आता है, वह (चरम पुद्गल परावर्त से पूर्व का अंतिम आवर्त) चरम आवर्त या सद्गुरु आवर्त कहा जाता है।

[३७१]

चारित्रिणस्तु विज्ञेयः शुद्ध्यपेक्षो यथोत्तरम् ।
ध्यानादिरूपो नियमात् तथा तात्त्विक एव तु ॥

चारित्री को ध्यान समता तथा वृत्तिसंक्षय सज्ञक योग उसकी शुद्ध आन्तरिक निर्मलता के अनुरूप निश्चित रूप में प्राप्त होते हैं। वे तात्त्विक होते हैं।

[३७२]

अस्यैव त्वनपायस्य सानुबन्धस्तथा स्मृतः ।
यथोदितक्रमेणैव सापायस्य तथापरः ॥

अपाय—विघ्न या साधनाविपरीत स्थिति से जो बाधित नहीं उनको उत्तरवर्ती विकास शृंखला सहित यथावत् रूप में योग प्राप्त होता है।

जो अपाययुक्त है उनके लिए ऐसा नहीं होता है।

[३७३]

अपायमाहुः कर्मैव निरपायाः पुरातनम् ।
पापाशयकरं चित्रं निरुपक्रमसंज्ञकम् ॥

अपायरहित—निर्विघ्नरूप में साधना-परायण महापुरुषों ने पूर्व में संचित पापाशयकर हिंसा, असत्य, चौर्य, लोभ, अहंकार, छल द्वेष व्यभिचार आदि से सम्बद्ध विविध कर्मों को अपाय कहा है। वे निरुपक्रम संज्ञा से भी अभिहित हुए हैं। उनका फल अवश्य भोगना होता है।

[३७४]

कण्टकज्वरमोहैस्तु समो विघ्नः प्रकीर्तितः ।
मोक्षमार्गप्रवृत्तानामत एवापरैरपि ॥

अन्य विचारकों ने भी मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त साधकों के लिए कण्टक विघ्न ज्वर विघ्न तथा मोक्ष विघ्न के रूप म आनेवाली बाधाओं की चर्चा की है।

राहगीर के पैर म कांटा चुभ जाए तो उसकी गति रुक जाती है यदि वह यात्रा के बीच में ज्वर ग्रस्त हो जाए तो भी आगे चलने म बाधा आ जाती है और यदि वह दिग्भ्रान्त हो जाए—उसे दिशाओं का यथावत ज्ञान न रह तो आगे चलना कठिन हो जाता है, ऐसी ही विघ्नपूर्ण स्थितियाँ साधक के समक्ष आती हैं, जिन्हें उसे पार करते हुए आगे बढना होता है।

सास्रव अनास्रव—

[३७५]

अस्यैव सास्रव प्रोक्तो बहुजन्मान्तरावह ।
पूर्वव्यावर्णित यायादेकजन्मा त्वनास्रव ॥

योग का पूर्व-वर्णित एक भेद सास्रवयोग है जो उस साधक के सधता है, जिसके अन्तिम मंजिल—मोक्ष तक पहुँचने म अभी अनेक जन्म पार करना बाकी होता है।

पहले किये गये विवेचन के अनुसार निरास्रव-योग उस साधक के सधता है, जिसे केवल एक ही जन्म मे से गुजरना होता है आगे जन्म नहीं लेना पड़ता।

[३७६]

आस्रवो बन्धहेतुत्वाद् बन्ध एवेह सम्मत ।
स सापरायिको मुख्यस्तदेवोऽर्थोऽस्य सगत ॥

आस्रव कर्म बन्ध का हेतु है इसलिए एक दृष्टि से वह बन्ध ही है। वस्तुत कर्म बन्ध का मुख्य कारण कषाय—कषायानुप्रेरित आस्रव है। बन्ध के साथ उसी की वास्तविक संगति है।

[३७७]

एव चरमदेहस्य सपरायवियोगत ।
इत्वरास्रवभावेऽपि स तथाऽनास्रवो मत ॥

जो चरम शरीरी है—वर्तमान शरीर के बाद जिसे और शरीर ध नहीं करना है मुक्त होना है, जिसके सांपराय वियोग—कषाय-विर सध गया है—जिसके कषाय नहीं रहे हैं, उसके सांपरायिक आस्रव नहीं होता। ऐसी स्थिति में अन्य—अति सामान्य आस्रव के गतिमान रह पर भी वह अनास्रव कहा जाता है, क्योंकि वह बन्ध बहुत मन्द, अल्प हल्का होता है।

जैन-दर्शन के अनुसार बारहवें क्षीणमोह तथा तेरहवें सयोग केवल गुणस्थान में इसी प्रकार का कर्म-बन्ध होता है। प्रस्तुत विवेचन के अनन्त जो पारिभाषिक रूप में अनास्रव-कोटि में आता है।

[३७८]

निश्चयेनात्र शब्दार्थः सर्वत्र व्यवहारतः।
निश्चय व्यवहारौ च द्वावप्यभिमतार्थदौ॥

अनास्रव का अर्थ निश्चय नय के अनुसार सर्वथा आस्रव रहित अवस्था है और व्यवहार-नय के अनुसार सांपरायिक आस्रव रहित अवस्था जो लगभग आस्रव रहितता के निकट होती है, वहाँ से व्यक्ति शीघ्र अनास्रव दशा प्राप्त कर लेता है।

व्यवहार नय द्वारा प्रतिपादित अर्थ भी निश्चय नय के विपरीत नहीं जाता, सर्वत्र तत्सगत ही होता है। यों निश्चय तथा व्यवहार—दोनों ही अभिमत—यथार्थतः स्वीकृत अर्थ ही प्रकट करते हैं।

उपसंहार—

[३७९]

सङ्क्षेपात् सफलो योग इति संदर्शितो ह्ययम्।
आद्यन्तौ तु पुनः स्पष्टं ब्रूमोऽस्यैव विशेषतः॥

संक्षेप में योग का फल सहित वर्णन किया जा चुका है। आदि—अध्यात्म तथा अन्त—वृत्तिसंक्षय का विशेष रूप से पुनः स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

[३८४ ३८५]

पर्वोपलक्षितो यद् या पुत्रजीवकमालया।
नासाग्रस्थितया दृष्टया प्रशान्तनान्तरात्मना॥
विधाने चेतसो वृत्तिस्तद्वर्णेषु यदव्यत।
अर्थे चालम्बने चैव त्यागश्चोपप्लवे सति॥

जप के समय हाथ का अँगूठा अपनी अँगुलियों के पोरों (पर्वों) पर अथवा रुद्राक्ष की माला के मनकों पर चलता रहे। दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर टिकी रहे। अन्तरात्मा मे प्रशान्त भाव रहे। चित्त-वृत्ति जप्य विषय अक्षर तदगत अर्थ आलम्बन—विषयगत मूल आधार के साथ संलग्न रहे। उपप्लव—मानसिक बाधा या विघ्न की अनुभूति हो तब जप करना बन्द कर देना चाहिए।

[३८६]

मिथ्याचारपरित्याग आश्वासात् तत्र वर्तनम्।
तच्छुद्धिकामता चेति त्यागोऽत्यागोऽयमीदृशः॥

मानसिक बाधा आदि आने पर जो जप का त्याग किया जाता है वह (त्याग) वास्तव मे त्याग न होकर अत्याग की श्रेणी मे आता है क्योंकि उससे मिथ्याचार—केवल कृत्रिम रूप मे क्रियमाण मन-रहित शून्य क्रिया का त्याग होता है। उस त्याग के फलस्वरूप अन्तर्विश्वास आस्थापूर्वक पुनः जप करने की वृत्ति सुदृढ़ होती है। जप मे सतत लगे रहे यह भावना जागरित होती है।

[३८७]

यथाप्रतिज्ञमस्येह कालमान प्रकीर्तितम्।
अतो [illegible] भावयन्ति विबुधाः॥

जप का समयावधि अपनी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार है। [illegible] जितने समय जप करने की भावना हो साधक उतने समय के लिए [illegible] करने का प्रतिज्ञा करे। तदनुसार यथाविधि जप समाप्ति करे।

विद्वानो का ऐसा अभिमत है कि यों प्रतिज्ञापूर्वक जप करने [illegible]

के व्यक्तित्व में ऐसी पवित्रता आ जाती है कि जिस समय वह जप नहीं
करता हो, उस समय भी उसकी अन्तवृत्ति जप पर ही केंद्रित
रहती है।

[३८८]

मुनीन्द्र शस्यते तेन यत्नतोऽभिग्रह शुभ ।
सदास्तो भावतो धम क्रियाकाले क्रियोद्भव ।।

जप के सन्दभ मे किये जाते विशेष लक्ष्यपूर्ण शुभ सकल्प की
मुनिवय प्रशसा करते हैं क्योकि उससे क्रियोचित समय म क्रिया परि
सम्पन्न होती है। उसके फलस्वरूप भाव-धम अन्त शुद्धिमूलक अध्यात्म धम
निष्पन्न होता है।

योग्यतावन —

[३८६]

स्वौचित्यालोचन सम्यक ततो धमप्रवतनम ।
आत्मसप्रेक्षण चव तदेतदपरे जगु ।।

कतिपय अन्य विचारको के अनुसार अपने औचित्य—योग्यता का
सम्यक आलोचन—भली भाँति मनन, तदनुसार धम म प्रवृत्ति तथा आत्म
सप्रेक्षण—आत्मावलोकन अध्यात्म है।

[३६०]

योगेभ्यो जनवादाच्च लिङ्गेभ्यो य यथागमम् ।
स्वौचित्यालोचन प्राहुर्योगमार्गकृतश्रमा ।।

जिन्होंने योग के माग म श्रम किया है—जो तपे हुए योग साधक हैं,
वे बतलाते है कि साधक योग द्वारा, जनवाद द्वारा तथा शास्त्र वर्णित चिन्हो
द्वारा अपनी योग्यता का अवलोकन करें।

[३६१]

योगा कायादिकर्माणि जनवादस्तु तत्कथा ।
शकुनादीनि लिङ्गानि स्वौचित्यालोचनास्पदम ।।

भावनाएँ, जैसा कि शास्त्रों में बताया गया है विशेष रूप से उद्भूत होती हैं।

[४०४]

एवं विचित्रमध्यात्ममेतद् यययोगतः।
आत्मन्यधीतिसंवृत्तेर्ज्ञेयमध्यात्मचिन्तकैः॥

"अधि—आत्मनि—जो आत्मा को अधिष्ठित कर रहता है—आत्मा में टिकता है, वह अध्यात्म है" इस व्युत्पत्ति के अनुसार अध्यात्म तत्त्व बहुविध कार्य कलाप में घटित है संगत है अध्यात्म चिंतन में अभिरत पुरुषों को यह जानना चाहिए।

वृत्तिसंक्षय—

[४०५]

भावनादित्रयाभ्यासाद् वर्णितो वृत्तिसंक्षयः।
स चात्मकर्मसंयोगयोग्यतापगमोऽन्यथा॥

भावना ध्यान तथा समता के अभ्यास से वृत्ति-संक्षय उत्पन्न होता है। उसका अर्थ आत्मा और कर्म के संयोग की योग्यता का अपगम—दूर होना है। दूसरे शब्दों में अनादिकाल से आत्मा के साथ कर्म बंध होते रहने की वृत्ति—स्थिति या अवस्था का सम्पूर्ण रूप से मिट जाना वृत्ति संक्षय है।

[४०६]

स्थूलसूक्ष्मा यतश्चेष्टा आत्मनो वृत्तयो मताः।
अन्यसंयोगजाश्चैता योग्यता बीजमस्य तु॥

आत्मा की सूक्ष्म एवं स्थूल—आभ्यन्तर तथा बाह्य चेष्टाएँ वृत्तियाँ कहा गया है। ये आत्मा का अन्य—आत्मेतर—विजातीय पदार्थ के साथ संयोग होने से निष्पन्न होती हैं। वह कारण जिससे ऐसा होता है, योग्यता कहा जाता है।

[४०७]

तदभावेऽपि तद्भावो युक्तो नातिप्रसङ्गतः।
मुख्यैषा भवमातेति तदस्या अयमुत्तमः॥

योग्यता के अभाव में संयोग या सम्बन्ध नहीं होता। यदि ऐसा न माना जाए तो सर्वत्र अव्यवस्था हो जाए। अतः यह—आत्मा की विजातीय पदार्थों के साथ संयुक्त या सम्बद्ध होने की योग्यता मुख्य मयमाला—जन्म मरणरूप संसारावस्था की प्रमुख उत्पादिका है। जगत् प्रवाह का यही प्रमुख आधार है।

[४०८]

पल्लवाद्यपुनर्भावो न स्कन्धापगमे तरोः।
स्यान्मूलापगमे यद्वत् तद्वद् भवतरोरपि॥

वृक्ष का मात्र तना काट देने से पत्र आदि का अपुनर्भाव—फिर उत्पन्न न होना घटित नहीं होता अर्थात् तना काट देने पर भी समय पाकर फिर वह हरा भरा हो जाता है, नये अंकुर फूटने लगते हैं, पत्तियाँ निकल आती हैं, बढ़ जाने पर फल लगने लगते हैं पर यदि वृक्ष की जड़ काट दी जाय तो फिर वहाँ कुछ नहीं होता। पत्ते, फूल आदि स्वयं नष्ट हो जाते हैं। संसाररूपी वृक्ष की भी यही स्थिति है। जब तक उसका मूल उच्छिन्न न हो, वह बढ़ता एवं फलता फूलता रहता है।

[४०९]

मूलं च योग्यता ह्यस्य विज्ञेयोदितलक्षणा।
पल्लवा अस्तर्वाद्यिा ह्यन्तरतन्मिह परम॥

योग्यता, जिसका स्वरूप पूर्ववर्णित है, संसाररूपी वृक्ष का मूल है। वृत्तियाँ तरह-तरह के पत्ते हैं। यह परम तत्त्व है—स्पष्ट वस्तुस्थिति है।

[४१०]

उपायोपगमे चास्या एतदन्तस्तथा ध्रुवः।
तत्स्वभावोऽभिद्रुतो योग उत्साहादिस्वभावश्च तु॥

ईंधन का यथार्थ रूप से उपयोग आत्मा और कर्म के संयोग की योग्यता का परिसमापन करने का उपाय उसी से अभिहित है और सम्यग् यह योग है, जो उत्साह आदि से उपलब्ध है।

[४११]

उत्साहान्निश्चयाद् धैर्यात् सन्तोषात् तत्त्वदर्शनात्।
मुनेर्जनपदत्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति ॥

उत्साह, निश्चय, धैर्य, सन्तोष, तत्त्व दर्शन तथा जनपद त्याग—बहुत परिचित प्रदेश स्थान आदि का त्याग अथवा साधारण लौकिक जनों द्वारा स्वीकृत जीवन क्रम का परिवर्जन—ये छः योग सधने के हेतु हैं।

[४१२]

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥

आगम—शास्त्रपरिशीलन, अनुमान, ध्यान के अभ्यास एवं रस—तन्मयता व अनुभूतिजनित आनन्दपूर्वक बुद्धि का प्रयोग करता हुआ, बुद्धि को संस्कारित बनाता हुआ साधक उत्तम योग प्राप्त करता है।

[४१३]

आत्मा कर्माणि तद्योगः सहेतुरखिलस्तथा।
फलं द्विधा वियोगश्च सर्वं तत्तत्स्वभावतः ॥

आत्मा, कर्म तथा कारण पूर्वक होनेवाला उसका सम्बन्ध, शुभ एवं अशुभ फल, कर्मों का आत्मा से पार्थक्य—अलगाव, यह सब उनके आत्मा और कर्म के स्वभाव से घटित होता है।

[४१४]

अस्मिन् पुरुषकारोऽपि सत्येव सफलो भवेत्।
अन्यथा न्यायवैगुण्याद् भवन्नपि न शस्यते ॥

पुरुषार्थ भी तभी सफल होता है जब वह आत्मा, कर्म आदि के स्वभाव के अनुरूप हो। वैसा न होने से—वस्तु-स्वभाव के विपरीत होने से न्यायानुमोदित नहीं है कि वह कार्यकर हो अर्थात् उसकी कार्यकारिता सिद्ध नहीं होती। अतः उसे प्रशस्त नहीं माना जाता।

[४१५]

अनादिरेष संसारो नानागतिसमाश्रयः।
पुद्गलानां परावर्ता अत्रानन्तास्तथा गताः ॥

यदि विभिन्न वस्तुओं के स्वभाव को कार्य साधन में कारण न माना जाए, एक मात्र पुरुषार्थ को ही माना जाए तो आत्मा में विविध कर्मरूप बीजों से उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ पुरुषार्थ द्वारा निरस्त हो जायेंगी।

[४१६]

ग्रन्थिभेदे यथवायं बन्धहेतुं परं प्रति।
नरकादिगतिष्वेवं ज्ञेयस्तद्धेतुगोचरः ॥

जिसका ग्रन्थि भेद हो गया हो, वहाँ कर्मों के अति तीव्र बन्ध होने का कोई हेतु नहीं रहता उक्त मान्यता से वहाँ भी बाधा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार नरक आदि गतियों में भी हेतु की अकरणता रहती है।

[४१७]

अन्यथाऽऽत्यन्तिको मृत्युर्भूयस्तत्र गतिस्तथा।
न युज्यते हि सन्न्यायादित्यादि समयोदितम् ॥

अन्य कारणों की अकरणता मानी जाए तो आत्यन्तिक मृत्यु—मोक्ष तथा कर्मानुरूप बार बार अनेक योनियों में जन्म लेना जो आगम-प्रतिपादित है घटित नहीं होता।

[४१८]

हेतुमस्य परं भावं सत्त्वाद्यागोनियतनम्।
प्रधानकरुणारूपं ब्रुवते सूक्ष्मदर्शिनः ॥

सूक्ष्म द्रष्टा ज्ञानियों का कथन है कि प्राणियों के प्रति असदाचरण पापमय विचार पवित्र मनोभावों से अपगत होते हैं जिनमें करुणा का प्रमुख स्थान है।

[४१९]

समाधिरेष एवान्यैः सम्प्रज्ञातोऽभिधीयते।
सम्यक्प्रकर्षरूपेण वृत्त्यर्थज्ञानतस्तथा ॥

पातञ्जल योगियों द्वारा उपर्युक्त योगोत्कर्ष सम्प्रज्ञात समाधि के रूप में अभिहित हुआ है। शाब्दिक व्युत्पत्ति के अनुसार 'सम्' का अर्थ सम्यक् 'प्र' का अर्थ प्रकृष्ट—उत्कृष्ट तथा 'ज्ञात' का अर्थ ज्ञानयुक्त है। इसका

अभिप्राय यह हुआ—योगी की वह स्थिति, जहाँ चित्त म इतनी स्थिरता आ जाती है कि अपने द्वारा गृहीत ग्राह्य—ध्येय सम्यक तया, उत्कृष्टतया रहे, चित्त का एकमात्र वही टिकाव हो, वह और कही भटके नहीं, सम्प्रज्ञात समाधि है।

महर्षि पतञ्जलि न योगसूत्र म सम्प्रज्ञात समाधि की चर्चा करते हुए लिखा है—

जिसकी राजस तामस वृत्तियाँ क्षीण हो गई हो, उत्तम जाति के स्फटिक मणि के सदृश जो अत्यन्त निर्मल हो, ग्रहीतृ (अस्मिता), ग्रहण (इन्द्रिय) तथा (स्थूल, सूक्ष्म) ग्राह्य विषयो में तत्स्थता—एकाग्रता तदञ्जनता—तन्मयता, तदाकारता निष्पन्न हो गई हो चित्त की वह स्थिति समापत्ति (या सम्प्रज्ञात समाधि) है।[1]

[४२०]

एवमासाद्य चरम जन्माजन्मत्वकारणम ।
श्रेणिमाप्य तत. क्षिप्र केवल लभते क्रमात ॥

यो साधनारत पुरुष आयुष्य समाप्त कर पुन जन्म प्राप्त करता है, जो उसके लिए अन्तिम होता है। वह (अन्तिम जन्म) अजन्म का कारण होता है अर्थात वहाँ पुनः जन्म मे लानवाले कर्मों का बन्ध नहीं होता। साधक श्रेणि आरोह करता है—क्षपक श्रेणि स्वीकार करता है और शीघ्र ही केवलज्ञान—सर्वज्ञत्व प्राप्त कर लेता है।

श्रेणि आरोह के सम्बन्ध म ज्ञाप्य है—

जैन दर्शन म चवदह गुणस्थानो के रूप मे आत्मा का जो विकास क्रम व्याख्यात हुआ है, उन (गुणस्थानो) मे आठवाँ निवृत्तिबादर गुणस्थान है। मोह को ध्वस्त करने हेतु यहाँ साधक को अत्यधिक आत्मबल के साथ जूझना होता है। फलत इस गुणस्थान मे अभूतपूर्व आत्मविशुद्धि निष्पन्न होती है। इसे अपूर्वकरण भी कहा जाता है। इस गुणस्थान म विकास

१ क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्ति ।
—पातञ्जल योगसूत्र १ ४१

की दो श्रेणियाँ निरूपित होती हैं—१ उपशम-श्रेणि २ क्षपकश्रेणि या क्षायक श्रेणि।

उपशम-श्रेणि द्वारा आगे बढ़ने वाला साधक नवम गुणस्थान में क्रोध मान माया को तथा दशम गुणस्थान में लोभ का उपशान्त करता हुआ—दबाता हुआ ग्यारहवें—उपशान्त मोह गुणस्थान में पहुँचता है।

क्षपक श्रेणि द्वारा आगे बढ़ने वाला साधक नवम गुणस्थान में क्रोध, मान माया को तथा दशम गुणस्थान में लोभ को क्षीण करता हुआ दशम के बाद सीधा बारहवें—क्षीणमोह गुणस्थान में पहुँचता है। उसके बाद क्रमशः तेरहवें सयोगकेवली तथा चवदहवें अयोग केवली गुणस्थान में पहुँच जीवन का चरम साध्य मोक्ष पा लेता है।

उपशम श्रेणि द्वारा ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचने वाला साधक क्रोध मान, माया व लोभ के उपशम द्वारा वहाँ पहुँचता है, क्षय द्वारा नहीं। क्षय सर्वथा नाश या ध्वंस है। उपशम में उन (क्रोध, मान माया तथा लोभ) का अस्तित्व मूलतः मिटता नहीं, केवल कुछ समय के लिए उपशान्त होता है। इसे राख से ढकी अग्नि के उदाहरण से समझा जा सकता है। आग पर आई हुई राख की परत जब तक विद्यमान रहती है आग जलाती नहीं। परत हटते ही आग का गुणधर्म प्रकट हो जाता है। वह जलाने लगती है। उपशान्त कषायों की यही स्थिति है। वे पुनः उभर आते हैं। अतः ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचे हुए साधक का अन्तर्मुहूर्त के भीतर नीचे के गुणस्थानों में पतन अवश्यम्भावी होता है। साधक को पुनः आत्मपराक्रम का सम्बल लिए आगे बढ़ना होता है। बढ़ते-बढ़ते जब भी वह क्षपक श्रेणि पर आरूढ हो पाता है आगे चलकर अपना साध्य साध लेता है।

[४२१]

असम्प्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते परः।
निरुद्धाशेषवृत्त्यादि तत्स्वरूपानुवेधतः॥

सर्वज्ञत्व कैवल्य पा लेने के बाद आगे जो योग सधना है वह पातञ्जल

अभिप्राय यह हुआ—योगी की वह स्थिति जहाँ चित्त में इतनी स्थिरता आ जाती है कि अपने द्वारा गृहीत ग्राह्य—ध्येय सम्यकतया, उत्कृष्टतया इष्ट रहे, चित्त का एकमात्र वही टिकाव हो, वह और कहीं भटके नहीं, सम्प्रज्ञात समाधि है।

महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में सम्प्रज्ञात समाधि की चर्चा करते हुए लिखा है—

जिसकी राजस तामस वृत्तियाँ क्षीण हो गई हों, उत्तम जाति के स्फटिक मणि के सदृश जो अत्यन्त निर्मल हो, ग्रहीतृ (अस्मिता), ग्रहण (इन्द्रिय) तथा (स्थूल, सूक्ष्म) ग्राह्य विषयों में तत्स्थता—एकाग्रता तद्-ञ्जनता—तन्मयता, तदाकारता निष्पन्न हो गई हो चित्त की वह स्थिति समापत्ति (या सम्प्रज्ञात समाधि) है।[1]

[४२०]

एवमासाद्य चरमं जन्माजन्मत्वकारणम् ।
श्रेणिमाप्य ततः क्षिप्रं केवलं लभते क्रमात् ॥

यों साधनारत पुरुष आयुष्य समाप्त कर पुनः जन्म प्राप्त करता है जो उसके लिए अन्तिम होता है। वह (अन्तिम जन्म) अजन्म का कारण होता है अर्थात् वहाँ पुनः जन्म में लानेवाले कर्मों का बंध नहीं होता। साधक श्रेणि आरोहण करता है—क्षपक श्रेणि स्वीकार करता है और शीघ्र ही केवलज्ञान—सर्वज्ञत्व प्राप्त कर लेता है।

श्रेणि-आरोहण के सम्बन्ध में ज्ञातव्य है—

जैन-दर्शन में चतुर्दश गुणस्थानों के रूप में आत्मा का जो विकास-क्रम व्याख्यात हुआ है उन (गुणस्थानों) में आठवाँ निवृत्तिबादर गुणस्थान है। मोह का उपशम करने हेतु यहाँ साधक को अत्यधिक आत्मबल के साथ जूझना होता है। फलतः इस गुणस्थान में अभूतपूर्व आत्मविशुद्धि निष्पन्न होती है। इसे अपूर्वकरण भी कहा जाता है। इस गुणस्थान में विकास

---

[1] क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ।
—पातञ्जल योगसूत्र १।४१

की दो श्रेणियाँ निःसृत होती हैं—१ उपशम-श्रेणि, २ क्षपकश्रेणि या क्षायक श्रेणि।

उपशम-श्रेणि द्वारा आगे बढ़ने वाला साधक नवम गुणस्थान में क्रोध मान माया का तथा दशम गुणस्थान म लोभ को उपशान्त करता हुआ—दबाता हुआ ग्यारहवें—उपशान्त मोह गुणस्थान म पहुंचता है।

क्षपक श्रेणि द्वारा आगे बढ़ने वाला साधक नवम गुणस्थान मे क्रोध मान माया का तथा दशम गुणस्थान म लोभ को क्षीण करता हुआ दशम के बाद सीधा बारहवें—क्षीणमोह गुणस्थान म पहुँचता है। उसके बाद क्रमशः तेरहवें सयोगकेवली तथा चवदहवें अयोग केवली गुणस्थान म पहुँच जीवन का चरम साध्य मोक्ष पा लेता है।

उपशम श्रेणि द्वारा ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचने वाला साधक क्रोध मान, माया व लोभ के उपशम द्वारा वहाँ पहुँचता है, क्षय द्वारा नहीं। क्षय सर्वथा नाश या ध्वंस है। उपशम म उन (क्रोध, मान, माया तथा लोभ) का अस्तित्व मूलत मिटता नहीं केवल कुछ समय के लिए उपशान्त होता है। इसे राख म दबी अग्नि के उदाहरण स समझा जा सकता है। आग पर आई हुई राख की परत जब तक विद्यमान रहती है आग जलाती नहीं। परत हटते ही आग का गुणधर्म प्रकट हो जाता है। वह जलाने लगता है। उपशान्त कषायों की यही स्थिति है। वे पुनः उभर आते हैं। अत ग्यारहवें गुणस्थान म पहुँचे हुए साधक का अन्तर्मुहूर्त के भीतर नीचे के गुणस्थानों म पतन अवश्यम्भावी होता है। साधक को पुन आत्मपराक्रम का सम्बल लिए आगे बढ़ना होता है। बढ़ते-बढ़ते जब भी वह क्षायक श्रेणि पर आरूढ़ हो पाता है आगे चलकर अपना साध्य साध लेता है।

[४२१]

असम्प्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते पर।
निरुद्धाशयवत्त्यादि तत्स्वरूपानुवेधत ॥

सर्वज्ञत्व कैवल्य पा लेने के बाद आगे जो योग सधता है, वह पातञ्जल

अभिप्राय यह हुआ—योगी की वह स्थिति जहाँ चित्त में इतनी स्थिरता आ जाता है कि अपने द्वारा गृहीत ग्राह्य—ध्येय सम्यक्तया, उत्कृष्टतया भाव रह, चित्त का एकमात्र वही टिकाव हो, वह और कहीं भटके नहीं, सम्प्रज्ञात समाधि है।

महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में सम्प्रज्ञात समाधि की चर्चा करते हुए लिखा है—

जिसकी राजस तामस वृत्तियाँ क्षीण हो गई हों, उत्तम जाति के स्फटिक मणि के सदृश जो अत्यन्त निर्मल हो, ग्रहीतृ (अस्मिता), ग्रहण (इन्द्रिय) तथा (स्थूल, सूक्ष्म) ग्राह्य विषयों में तत्स्थता—एकाग्रता, तदञ्जनता—तन्मयता, तदाकारता निष्पन्न हो गई हो चित्त की वह स्थिति समापत्ति (या सम्प्रज्ञात समाधि) है।[1]

[४२०]

एवमासाद्य चरमं जन्माजन्मत्वकारणम् ।
श्रेणिमाप्य ततः क्षिप्रं केवलं लभते क्रमात् ॥

या साधनारत पुरुष आयुष्य समाप्त कर पुनः जन्म प्राप्त करता है, जो उसके लिए अन्तिम होता है। वह (अन्तिम जन्म) अजन्म का कारण होता है अर्थात् वहाँ पुनः जन्म में लानेवाले कर्मों का बंध नहीं होता। साधक श्रेणि आरोह करता है—क्षपक श्रेणि स्वीकार करता है और शीघ्र ही केवलज्ञान—सर्वज्ञत्व प्राप्त कर लेता है।

श्रेणि आरोह के सम्बन्ध में भाष्य है—

जैन दर्शन में चवदह गुणस्थानों के रूप में आत्मा का जो विकास क्रम व्याख्यात हुआ है उन (गुणस्थानों) में आठवाँ निवृत्तिबादर गुणस्थान है। मोह को ध्वस्त करने हेतु यहाँ साधक को अत्यधिक आत्मबल के साथ जूझना होता है। फलत इस गुणस्थान में अभूतपूर्व आत्मविशुद्धि निष्पन्न होती है। इसे अपूर्वकरण भी कहा जाता है। इस गुणस्थान से विकास

१ क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः।
—पातञ्जल योगसूत्र १.४१

की दो श्रेणियाँ निरूपित होती हैं—१ उपशम श्रेणि, २ क्षपकश्रेणि या क्षायक श्रेणि।

उपशम-श्रेणि द्वारा आगे बढने वाला साधक नवम गुणस्थान में क्रोध मान माया को तथा दशम गुणस्थान म लोभ को उपशान्त करता हुआ—दबाता हुआ ग्यारहवें— उपशान्त मोह गुणस्थान म पहुंचता है।

क्षपक श्रेणि द्वारा आगे बढने वाला साधक नवम गुणस्थान म क्रोध, मान माया को तथा दशम गुणस्थान म लोभ को क्षीण करता हुआ दशम के बाद सीधा बारहवें—क्षीणमोह गुणस्थान म पहुँचता है। उसके बाद क्रमश तेरहवें सयोगकेवली तथा चवदहवें अयोग केवली गुणस्थान म पहुंच जीवन का चरम साध्य मोक्ष पा लेता है।

उपशम श्रेणि द्वारा ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचने वाला साधक क्रोध मान, माया व लोभ के उपशम द्वारा वहाँ पहुँचता है क्षय द्वारा नही। क्षय सवथा नाश या ध्वस है। उपशम म उन (क्रोध, मान, माया तथा लोभ) का अस्तित्व मूलत मिटता नहा, केवल कुछ समय के लिए उपशान्त होता है। इस राख स ढकी अग्नि के उदाहरण स समझा जा सकता है। आग पर आई हुई राख की पत जब तक विद्यमान रहती है आग जलाती नही। पत हटते ही आग का गुणधर्म प्रकट हो जाता है। वह जलाने लगती है। उपशान्त कषायों की यही स्थिति है। वे पुन उभर आते हैं। अत ग्यारहवें गुणस्थान म पहुंचे हुए साधक का अन्तमुहूर्त के भीतर नीचे क गुणस्थानो मे पतन अवश्यम्भावी होता है। साधक को पुन आरमपराक्रम का सम्बल लिए आगे बढना होता है। बढते-बढते जब भी वह क्षायक श्रेणि पर आरूढ हो पाता है आगे चलकर अपना साध्य साध सकता है।

[८२१]

असम्प्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते पर।
निरुद्धाशषवृत्त्यादि तत्स्वरूपानुवेधत ॥

सवज्ञत्व कैवल्य पा लेने के बाद आगे जो योग सधता है वह पातजल

णीय कम से आवृत रहता है तो शेय पदार्थों के जानने में उसकी प्रव
नही होती।

[४३२]

ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धके।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यात् कथमप्रतिबन्धकः ॥

प्रतिबन्धक—बाधक का अभाव हो तो ज्ञ—जानने में सक्षम पुरु
ज्ञेय—जानने योग्य पदार्थ को जानने में कैसे असमर्थ रहे? अप्रतिब—
बाधारहित अग्नि जलाने योग्य वस्तु को नहीं जलाए? अर्थात बाधक हो
न होने पर अग्नि जिस प्रकार जलाने का कार्य करती है, उसी प्रकार ज्ञ
बाधक न होने पर जानने का कार्य करता है।

[४३३]

न देशविप्रकर्षोऽस्य युज्यते प्रतिबन्धकः।
तथानुभवसिद्धत्वाद्वग्नेरिव मुनीरितं ॥

केवलज्ञान या सर्वज्ञता द्वारा जानने के उपक्रम में स्थान आदि
व्यवधान बाधक नहीं होता जैसे अग्नि की दाहकता में होता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि देशकाल आदि बाह्य प्रतिबन्धक
केवलज्ञान की कार्यकारिता या गति को रोक नहीं सकते।

[४३४]

अंशतस्त्वेष दृष्टान्तो धर्ममात्रत्वदर्शकः।
अदाह्याद्वहनाद्यत्र एवं न बाधकम् ॥

यहाँ जो अग्नि का दृष्टान्त दिया गया है, वह अंशतः एक
आंशिक है। वह मात्र धर्म—स्वभाव का दिग्दर्शक है। जैसे अग्नि
धर्म जलाना है उसी प्रकार ज्ञान का धर्म जानना है।

कुछ ऐसी वस्तुएँ होती हैं जो अग्नि द्वारा जलायी नहीं जा सक
कुछ ऐसी स्थितियाँ होती हैं, जिनके कारण अग्नि जलाने योग्य वस्तुओं
भी जला नहीं सकती। अग्नि की यह अदाहकता, केवलज्ञान के प्रसं
उसकी अकार्यकारिता स्थापित नहीं करती। क्योंकि यह दृष्टान्त स
लिये हुए नहीं है।

[४३५]

सवत्र सवसामान्यज्ञानाज्ञयत्वसिद्धित ।
तस्यात्तिलविशेषेषु सद्वेत्तयासङ्गतम ॥

सवसामान्य ज्ञान से सवज्ञत्व की सिद्धि होती है। अर्थात सवसामान्य
न द्वारा सामान्यत सभी जानने योग्य पदाथ जाता की क्षमता के अनुसार
न जा सकते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि विशिष्ट ज्ञानयुक्त आत्मा
की वस्तुओं की सभी विशेषताओं को जान सकती है।

[४३६]

सामान्यवद् विशेषाणां स्वभावो ज्ञेयभावत ।
ज्ञायते स च साक्षाद् विना विज्ञायते कथम ॥

ज्ञेय भाव स—ज्ञयत्व की अपेक्षा से विशेषों का स्वभाव भी सामान्य
सा ही है। जब सामान्य प्रत्यक्ष रूप से जान जाते हैं तो विशेषों का भी
न प्रत्यक्ष से हो सम्भव है। अत ऐसी आत्मा भी होनी चाहिए, जो
ज्ञ हो। क्योंकि साक्षात समस्त पदार्थ अपनी विशेषताओं सहित सवज्ञ
रा ही जान जा सकते हैं।

[४३७]

अतोऽयं ज्ञत्वभावत्वात सवज्ञ स्यान्नियोगत ।
नान्यथा ज्ञत्वमस्येति सूक्ष्मबुद्ध्या निरूप्यताम् ॥

ज्ञत्वभावत्व—ज्ञातृस्वभावता के कारण—स्वभावत ज्ञाता होने के
ारण कोई आत्मा निश्चय ही सवज्ञाता या सवज्ञ हो यह युक्तियुक्त है।
न्यथा सवथा सर्वथा जानने वाला कोई न होने स आत्मा का ज्ञातृत्व
मग्रतया सिद्ध नहीं होता। सूक्ष्म बुद्धि से इस पर चिन्तन करें।

[४३८ ४४२]

एव च तत्त्वतासार यदुक्त मतिशालिना ।
इह व्यतिकरे किञ्चिदाचार्यबुद्ध्या सुभाषितम ॥

ज्ञानवान् मृग्यते कश्चित तदुक्तप्रतिपत्तये ।
अज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभि ॥

तस्मादनुष्ठानगत ज्ञानमस्य विचार्यताम ।
कीटसङ्ख्यापरिज्ञान तस्य न क्वोपयुज्यते ॥
हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदक ।
य प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदक ॥
दूर पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्ट तु पश्यतु ।
प्रमाण दूरदर्शी चेदेते गृध्रानुपास्महे ॥

बुद्धिशाली अन्य तार्किक ने इस प्रसग मे अपनी तीक्ष्ण बुद्धि और मधुर शब्दो मे जो मन्तव्य प्रकट किया है वास्तव मे वह सारहीन है।

वह मन्तव्य इस प्रकार है—

"अज्ञानी पुरुष के उपदेश का अनुसरण कर कहा विडम्बना मे न पड़ जाएँ, धोखा न खाएँ, ऐसी शका कर समझदार लोग किसी ज्ञानी की खोज करते हैं जिसके वचना पर विश्वास किया जा सके ।

यो जिस ज्ञानी पुरुष की बात मानने को तयार हो उसके ज्ञान के सम्बन्ध मे यह जानना चाहिए कि वह करणीय अनुष्ठान मे समर्थ है या नही । उसका ज्ञान तो कीड़ो की सख्या की गणना करने का भी हो सकता है। कीडो की सख्या बहुत बडी है । उनकी गणना करने का काय भी कम नहीं है पर उसका हमारे लिए कहाँ उपयोग है ? हमारे लिए तो वह ज्ञान अनुपयोगी है । हम उससे क्या लाभ ?

क्या हेय—त्यागने योग्य तथा क्या उपादेय—ग्रहण करने योग्य है, हेय को छोड़ने और उपादेय को अपनाने के क्या उपाय है—ऐसा करने का क्या विधिक्रम है—यह जो जानता है वही हमारे लिए वाञ्छनीय है उपादेय है प्रमाणभूत है । जो और सब कुछ जानता हो हमे वह इष्ट नहीं है।

जो बहुत दूर की वस्तु को देख पाये या न देख पाए, हम उससे क्या? हम तो उससे प्रयोजन है जो इष्ट—अभीप्सित वाञ्छनीय या उपादेय तत्त्व को देखता है जानता है। यदि दूरदर्शी—बहुत दूर तक देख सकने वाला ही प्रमाणभूत हो तो अच्छा है हम गीधो की उपासना—पूजा करे जिनमें बहुत दूर तक देखने की क्षमता होती है ।

उपयु क्त अभिमत विख्यात बौद्ध तार्किक आचाय धमकीर्ति का है, जिसकी उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध ग्र थ प्रमाणवार्तिक म चर्चा की है।

[४४३]

एवमाद्यु क्तसन्नीत्या हेयाद्यपि च तत्त्वत ।
तत्त्वस्यासवदर्शी न वेत्त्यावरणभावत ॥

उक्त म तव्य के समाधान के रूप म ग्र थकार का कथन है कि प्रस्तुत स दभ म युक्तिपूवक समीचीनतया चर्चा की जा चुकी है कि हेय तथा उपा देय के सम्ब ध मे सवथा यथावत् रूप मे जान पाना वसे किसी पुरुष के लिए सम्भव नही होता जो सवज्ञ नही है। क्योकि वसे पुरुष के ज्ञान पर कर्मावरण रहता है जिससे वह (ज्ञान) अप्रतिहतगति नही होता। फलत वह पुरुष वसा सब जानने मे सक्षम नही होता जैसा कि सवज्ञ द्वारा सम्भव है।

[४४४]

बुद्ध यध्यवसित यस्मादर्थं चेतयते पुमान् ।
इतीष्ट चेतना चेह सवित सिद्धा जगतत्रये ॥

बुद्धि अपने द्वारा गृहीत पदाथ पुरुष (आत्मा) की चेतना मे प्रस्थापित करती है जिसस पुरुष उसे जानता है। पर यह क स सम्भव हो। क्योकि चेतना ही ज्ञान है यह तीनो लोको मे सिद्ध है। फिर बुद्धि द्वारा चेतना में रखा जाना आत्मा द्वारा जाना जाना इत्यादि म समीचीन सगति प्रतीत नही होती।

यहाँ यह ज्ञात य है साख्य दशन के अनुसार अहकार तथा मनरूप अन्त करणयुक्त बुद्धि सब विषयो को ग्रहण करती है। अत बुद्धि अहकार तथा मन करण कहे जाते हैं। विषय ग्रहण हेतु इन्हें प्रमुख द्वार के रूप मे स्वीकार किया गया है। बाकी इन्द्रिय आदि उनके सहयोगी हैं, गौण हैं।

इसका कुछ और स्पष्टीकरण यो है—दीपक की तरह ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय, अहंकार तथा मन पुरुष के लिए पदार्थों को प्रकाशित कर बुद्धि को देते हैं बुद्धि में सन्निहित करते हैं। पुरुष द्वारा उनका ग्रहण बद्धि से

साधित होता है। अर्थात् बुद्धि उन्हें पुरुष तक पहुंचाती है। वही पुरुष और प्रकृति का विषय विभाग कराती है, उनकी सूक्ष्म भिन्नता सिद्ध करती है।[1]

चेतना तथा संवित् की समानता बताते हुए प्रस्तुत पद्य में इस मन्तव्य का निरसन किया गया है। आगे के पद्यों में विशेष स्पष्टीकरण है।

[४४८]

चैतन्य च निज रूप पुरुषस्योदित मत ।
अत आवरणाभावे मतत स्वफलकृत कुत ॥

साम्य सिद्धान्त के अनुसार चेतना पुरुष या आत्मा का स्वरूप है। जब आवरण—पुरुष के स्वरूप-स्वभाव को आवृत करने वाले उसको रोकने वाले हेतु नहीं हैं तो फिर चेतना अपना कार्य कैसे न करे समझ में नहीं आता।

[४४६ ४४७]

न निमित्तवियोगेन तद्व्यावरणसङ्गतम ।
न च तत्तत्स्वभावत्वात् सवेदनमिद मत ॥
चैतन्यमेव विज्ञानमिति नात्माकमागम ।
किंतु महतो धर्म प्राकृतश्च महानपि ॥

साख्य दार्शनिकों का यह तर्क है कि मोक्ष प्राप्त हो जाने पर पुरुष को पदार्थों का ज्ञान नहीं होता। क्योंकि ज्ञान होने के निमित्त कारण मन का वहाँ अस्तित्व नहीं होता, जो (मन) प्रकृति से उत्पन्न है। मोक्षावस्था

---

१ सान्त करणा बुद्धि सव विषयमवगाहते यस्मात् ।
तस्मात् त्रिविध करण द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥
एते प्रदीपकल्पा परस्परविलक्षणा गुणविशेषा ।
कृत्स्न पुरुषस्यार्थ प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥
सव प्रत्युपभोग यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धि ।
सव च विशिनष्टि पुन प्रधानपुरुषान्तर सूक्ष्मम् ॥
—साख्यकारिका ३५

प्रकृति और पुरुष का सर्वथा वियोग हो जाता है। प्रकृति का जब पुरुष से पार्थक्य हो जाता है तो तत्प्रसूत सभी तत्त्व सहज ही पुरुष से पृथक् हो जाते हैं।

जानना आत्मा का स्वभाव है अत मोक्ष होने पर भी उसे ज्ञान रहता है, ऐसा नहीं माना जा सकता। हम (सांख्यवादी) चैतन्य—चेतना ही ज्ञान है, ऐसा नहीं मानते। चेतना और ज्ञान दोनों भिन्न है। चेतना पुरुष का धर्म है तथा ज्ञान बुद्धि का धर्म है। बुद्धि प्रकृति से उत्पन्न है।

[४४८]

बुद्ध्यध्यवसितस्यैव कथमस्य चेतनम् ।
गीयते तत्र नन्वेतत् स्वयमेव निभाल्यताम् ॥

यदि ज्ञान और चेतना भिन्न भिन्न है, तब बुद्धि अपने द्वारा गृहीत जो विषय पुरुष तक पहुँचाती है उसके सम्बन्ध में आप कैसे कह पायेंगे कि पुरुष चेतना द्वारा ग्रहण कर उसे जानता है। यों कहना संगत नहीं होता। इस पर स्वयं ही विचार करें।

[४४९, ४५०]

पुरुषो विकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् ।
मन करोति सान्निध्यादुपाधि स्फटिकं यथा ॥

विभक्तेदृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते ।
प्रतिबिम्बोदय स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥

प्रतिवादी सांख्य की यह दलील हो सकती है—पुरुष अविकृत—विकाररहित है। जैसे स्फटिक पत्थर का अपना कोई विशेष रंग नहीं होता जिस रंग की वस्तु उसके समीप आती है, उसकी परछाई द्वारा वह उसी रंग में परिणत दिखाई पड़ता है। उसी प्रकार अचेतन मन पुरुष में प्रतिबिम्बित होता है। पुरुष में जो विकार दृष्टिगोचर होता है वह वास्तविक नहीं है मन की सन्निधि के कारण है।

स्वच्छ जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो चन्द्रमा जल में समाया हो। उसी प्रकार बुद्धि द्वारा गृहीत विषय

पुरुष में प्रतिबिम्बित होता है तो बाह्य दृष्टि से ऐसा लगता है, वह मानो पुरुष का ही हो ।

[४५१]

स्फटिकस्य तथानामभावे तदुपधेस्तया ।
विकारो नान्यथाऽसौ स्याद्‌ ग्राश्मन इव स्फुटम् ॥

ग्रन्थकार के अनुसार इसका समाधान यों है—उक्त स्थिति तभी घटित होती है, जब स्फटिक तथा तत्समीपवर्ती किसी रंगीन वस्तु का अपने स्वभावानुरूप परिणत होने का गुण है। यदि ऐसा नहीं हो, स्फटिक के स्थान पर कोई धुंधला मटमैला पत्थर हो तो यह सम्भव नहीं होता। वैसे ही पुरुष का उस रूप में परिणत होने का स्वभाव है, तभी वैसा होता है अन्यथा नहीं।

[४५२]

तथा नामव सिद्ध य विक्रियाऽप्यस्य तत्वत ।
चतन्यविक्रियाऽप्येवमस्तु ज्ञान च साऽऽत्मनः ॥

उपर्युक्त उदाहरण से सिद्ध होता है कि आत्मा में यथार्थ विक्रिया—परिणति या परिणमन भी होता है। इसी प्रकार चेतना में भी परिणमन होता है जो आत्मा की ज्ञानरूपात्मक अवस्था है।

[४५३]

निमित्ताभावतो नो चेन्निमित्तमखिल जगत्‌ ।
नान्तःकरणमिति चेत क्षीणदोषस्य तेन किम् ॥

मोक्ष प्राप्त हो जाने पर ज्ञान नहीं रहता क्योंकि वहाँ निमित्त का अभाव होता है। ऐसा जो कहते हो, उसका उत्तर यह है कि समस्त जगत्‌ ही तो निमित्त है जो मोक्ष प्राप्ति के बाद भी विद्यमान रहता है। यदि कहो कि वहाँ अन्तःकरण[1] नहीं रहता तो उसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जिसके राग द्वेष आदि समस्त दोष मिट गये हैं उसे अन्तःकरण की कोई आवश्यकता नहीं होती।

---

१ बुद्धि अहंकार तथा मन।

[४५४]

निरावरणमेतद् यद् विश्वमाश्रित्य विक्रियाम् ।
न याति यदि सत्त्वेन न निरावरणं भवेत् ॥

यदि चेतना (आत्मा) निरावरण—सर्वथा आवरणरहित है तो फिर वह जगत को आश्रित कर विक्रिया—विकार—परिणमन कसे प्राप्त करती है ? यदि निरावरण चेतना विकारग्रस्त होती हो तो उसे निरावरण कैसे कहा जाए ?

[४५५]

दिदृक्षा विनिवृत्ताऽपि नेच्छामात्रनिवर्तनात् ।
पुरुषस्यापि युक्तेयं स च चिद्रूप एव च ॥

मोक्ष प्राप्त हो जाने पर भान नहीं रहता क्योंकि तब तक तो इच्छा मात्र समाप्त हो जाता है देखने जानने की भी इच्छा मिट जाती है ऐसा जो कहा जाता है, उसका समाधान यह है कि यदि ऐसा हो तो पुरुष (आत्मा) की अपने आपको देखने—जानने की इच्छा भी मिटनी चाहिए पर ऐसा नहीं होता। शब्द से चाहे उसे इच्छा न कहा जाए स्वभाव या चेतन कहा जाए पर वसी स्थिति वहाँ विद्यमान रहती है। सांख्यवादी स्वयं स्वीकार करते हैं कि आत्मा चेतना के रूप में है और चेतना अपने को जानना कभी बन्द नहीं करती।

[४५६]

चैतन्यं चेह संशुद्धं स्थितं सर्वस्य वेदकम् ।
तन्त्रे ज्ञाननिषेधस्तु प्राकृतापेक्षया भवेत् ॥

मोक्ष प्राप्त हो जाने पर चैतन्य का विशुद्ध रूप रहता है और वह सभी ज्ञेय पदार्थों को जानता है। सांख्य शास्त्र में मुक्तावस्था में ज्ञान का जो निषेध किया है वह साधारण सांसारिक ज्ञान को लेकर किया हुआ होना चाहिए जिसे अयथार्थ समझा जाता है।

[४५७]

आत्मदर्शनतश्च स्यान्मुक्तिर्यत् तन्त्रनीतितः ।
सर्वस्य ज्ञानसद्भावस्तत्त्वप्रत्ययव साधितः ॥

शास्त्रों में आये विवेचन से यह प्रकट है कि आत्मदर्शन से मुक्ति होती है। शास्त्रोक्त युक्ति द्वारा यह भी सिद्ध होता है कि मोक्ष प्राप्त कर लेने के बाद भी आत्मा ज्ञानयुक्त होती है।

[४५८]

नैरात्म्यदर्शनादन्ये निबन्धनवियोगतः ।
दोषप्रहाणमिच्छन्ति सर्वथा न्याययोगिनः ॥

कतिपय विचारक जो मुख्यतः तर्क का आधार लिये चलते हैं, मानते हैं कि नैरात्म्यवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करने में ही आध्यात्मिक दोष सर्वथा मिट सकते हैं। अर्थात् समग्र रूप में दोषों के निर्मूलन की बात परिकल्पित की जाती है, वह तो तभी सध सकती है जब दोषों के आधार का ही शाश्वत अस्तित्व न हो। क्योंकि आत्मा जिसमें दोष टिकते है, रहेगी तो यत्किञ्चित ही सही दोष भी रहेंगे।

[४५६]

समाधिराज एतत् तत् तदेतत् तत्त्वदर्शनम् ।
आग्रहच्छेदकार्येतत् तदेतदमृतं परम् ॥

समाधिराज (नामक ग्रन्थ) में उल्लेख है कि नैरात्म्यवाद से यथार्थ तत्त्व दर्शन प्राप्त होता है, दुराग्रह विच्छिन्न होता है—आग्रहशून्य दृष्टि प्राप्त होती है, जो साधक के लिए दिव्य अमृत है—परम शान्तिप्रद है।

समाधि' योग का सुप्रचलित शब्द है। यह अष्टांगयोग का आठवाँ—अन्तिम अंग है जहाँ योग परिपूर्णता पाता है। यही देखकर योगबिन्दु के कुछ टीकाकारों ने समाधिराज का अर्थ उत्कृष्टतम समाधि कर लिया है। यह भ्रान्ति रही है।

स्वर्गत विद्वद्रत्न प० सुखलालजी संघवी ने 'समाधिराज' के सम्बन्ध में बड़ी महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ की है। उनके अनुसार यह एक ग्रन्थ का नाम है। समाधिराज' नामक ग्रन्थ है भी, जो बहुत प्राचीन है। इसके प्राप्त होने का इतिहास बड़ा रोमांचक है। इस ग्रन्थ की प्राचीनता कनिष्क के समय जितनी है। भिन्न भिन्न समयों में चीनी भाषा में इसके तीन रूपान्तर हुए, जो प्राप्त है। चौथा रूपान्तर तिब्बती भाषा में हुआ। मूल ग्रन्थ आकार

मे छोटा था, पर वह क्रमशः वृद्धि पाता गया। ग्रन्थ का जो तिब्बती रूपान्तर है वह तो मूल ग्रन्थ के अन्तिम परिवर्द्धित रूप का भाषान्तर है। अन्तिम परिवर्द्धित रूप वाला समाधिराज नेपाल मे मूल रूप मे प्राप्त है। समाधिराज की भाषा संस्कृत है परन्तु वह ललितविस्तर और महावस्तु की तरह संस्कृत-पालि मिश्रित है। यह ग्रन्थ भारत मे प्राप्त नहीं था पर गिलगित प्रदेश मे एक चरवाहे के लडके को बकरियाँ चराते समय यह ग्रन्थ मिला। उसके साथ और भी कुछ एक ग्रन्थ थे। इन ग्रन्थो का सम्पादन कलकत्ता विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध विद्वान डा० नलिनाक्ष दत्त ने सुन्दर रीति से किया है और उसकी अंग्रेजी मे विस्तृत भूमिका लिखी है। चीन और तिब्बत मे पहले से ही ग्रन्थ का जाना वहाँ उसकी प्रतिष्ठा, काश्मीर के एक प्रदेश मे उसकी प्राप्ति इसमें सूचित कनिष्क के समय तक हुई तीन धर्म-संगीतियो का निर्देश इसकी पालि संस्कृत मिश्रित भाषा इसमें लिया गया शून्यवाद का आशय—ये सब बातें देखते हुए ऐसा लगता है कि यह काश्मीर के किसी भाग मे अथवा पश्चिमोत्तर भारत के किसी भाग मे रचा गया हो। समाधिराज की प्रतिष्ठा और इसका प्रचार कभी इतना अधिक रहा हो कि उसने हरिभद्र जैसे महान् जैन आचार्य का ध्यान अपनी ओर खींचा।

[४६०-४६२]

तृष्णा यज्जन्मनो योनिर्ध्रुवा सा चात्मदर्शनात्।
तदभावाच्च तदभावस्ततो मुक्तिरियमपि ॥

न ह्यपश्यन्नहमिति स्निह्यत्यात्मनि कश्चन।
न चात्मनि विना प्रेम्णा सुखकामोऽभिधावति ॥

सत्यात्मनि स्थिरे प्रेम्णि न वैराग्यस्य संभव।
न च रागवतो मुक्तिर्दातव्योऽस्या जलाञ्जलि ॥

तृष्णा जन्म का निश्चय ही मूल है। वह आत्मदर्शन—आत्मा को एक स्वतन्त्र तत्त्व मानने से टिकती है। यदि आत्मा का अस्तित्व स्वीकार न किया जाये तो तृष्णा भी नहीं रहेगी। या तृष्णा के अभाव मे मोक्ष—दुःखों का आत्यन्तिक अभाव, दुःखो से छुटकारा प्राप्त होगा।

'मैं हूँ', ऐसा देखना बन्द कर देने पर—आत्मास्तित्वमूलक इस मन्तव्य का अभाव हो जाने पर कोई अपने में स्नेह—आसक्ति नहीं रखता। यदि आत्मा में आसक्तिमूलक प्रेम नहीं होता तो मनुष्य भौतिक सुख की कामना से नहीं भटकता।

यदि आत्मा में प्रेम या आसक्ति स्थिर होगी तो वैराग्य—विरक्ति कभी संभव नहीं होगी। रागयुक्त की कभी मुक्ति नहीं होती। अतः द्वैत के सिद्धान्त को छोड़ ही देना पड़ेगा।

[४६३]

नैरात्म्यमात्मनोऽभावः क्षणिकोऽवाऽयमित्यदः ।
विचार्यमाणं नो युक्तया द्वयमप्युपपद्यते ॥

उपर्युक्त अभिमत के उत्तर में ग्रन्थकार का कथन है—

नैरात्म्य का अर्थ आत्मा का अभाव अथवा आत्मा की क्षणिक स्थिति है। विचार करने पर ये दोनों ही बातें युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होतीं।

[४६४]

सर्वथैवात्मनोऽभावे सर्वा चिन्ता निरर्थका।
सति धर्मिणि धर्मा यच्चिन्त्यन्ते नीतिमद्वचः ॥

यदि आत्मा का सर्वथा अभाव माना जाए तो सभी चिन्ताएँ—पुण्य पाप, बन्धन मुक्ति आदि से सम्बद्ध सब प्रकार के चिन्तन निरर्थक होंगे। नीतिमान् न्यायवेत्ताओं का वचन है कि धर्मी—धर्मवान् या गुणवान का अस्तित्व होने पर ही धर्मों का विचार होता है। अर्थात् धर्मी होगा तभी धर्म होंगे धर्मी के अभाव में धर्मों का अस्तित्व ही कहाँ टिकेगा।

[४६५]

नैरात्म्यदर्शनं कस्य को वाऽस्य प्रतिपादकः ।
एकान्तानुष्ठितायां हि प्रतिपाद्यस्तथेह कः ॥

जब आत्मा का आत्यन्तिक अभाव हो तो नैरात्म्यवाद के सिद्धान्त की सचाई का कौन अनुभव करे, क्योंकि अनुभव तो आत्मा करती है

और इस मत के अनुसार उसका अस्तित्व है नहीं। इसी प्रकार कौन इस (नैरात्म्यवाद के) सिद्धान्त का प्रतिपादन करे तथा एकान्ततः सारहित यह विषय किसके समक्ष प्रतिपादित किया जाए, किसे समझाया जाए।

[४६६-४६७]

कुमारीसुतजन्मादिस्वप्नबुद्धिसमोदिता ।
भ्रान्तिः सर्वमिति चेन्ननु सा धर्म एव हि ॥
कुमार्या भाव एवेह यदैतदुपपद्यते ।
वन्ध्यापुत्रस्य सोऽस्मिन्न जातु स्वप्नदर्शनम् ॥

स्वप्न में कुमारिका को पुत्र-जन्म की अनुभूति एक भ्रान्ति है उसी प्रकार यह (नैरात्म्यवादी सिद्धान्त) एक भ्रान्ति है, ऐसा कहा जाता है। इसमें या थोड़े संशोधन की गुंजाइश है। भ्रान्ति मिथ्यामूलक ही सही, एक धर्म या विषय तो है, जिसका आधार या धर्मी कुमारिका अस्तित्व लिए है। इसके स्थान पर यदि वन्ध्यापुत्र का स्वप्न आने की बात कही जाए तो वह सर्वथा असंभव होगी। क्योंकि वन्ध्या-पुत्र का कहीं अस्तित्व ही नहीं होता। यह उदाहरण नैरात्म्यवाद के साथ सर्वथा संगत है। नैरात्म्य वाद वन्ध्या-पुत्र की तरह सर्वथा निराधार एवं अस्तित्व शून्य है।

[४६८]

क्षणिकत्वं तु नैवास्य क्षणादूर्ध्वं विनाशतः ।
अन्यस्याभावतोऽसिद्धेरन्यथाऽन्वयभावतः ॥

आत्मा का क्षणिकत्व भी सिद्ध नहीं होता। क्षणिक या क्षणवर्ती आत्मा अपने उद्भव के क्षण में नष्ट होते ही नष्ट हो जाती है। यों जो आत्मा नष्ट हो गई हो, उससे दूसरी का उद्भव नहीं हो सकता। वैसा होने के लिए आगामी क्षण में भी उसकी विद्यमानता माननी होगी। दूसरे प्रकार से यदि यों माना जाए कि अगले क्षण सर्वथा अन्य—पूर्ववर्ती आत्मा से बिल्कुल असम्बद्ध आत्मा उद्भूत होती है, तब फिर पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती आत्मा में अन्वय-संगति घटित नहीं होती। प्रत्येक सन्दर्भ में दोनों की असम्बद्धता सिद्ध होती है जो वस्तुस्थिति के प्रतिकूल है।

[४६९]

भावाविच्छेद एवायमन्वयो गीयते यतः ।
स चान्तरमात्मिकत्वे हेतोरस्यापि बाधितः ॥

पदार्थों में भावों या पर्यायों की अविच्छिन्नता—पर्याय शृंखलाबद्धता उनकी अन्वय-संगति का हेतु है। उसी के द्वारा पदार्थों के पूर्व भाव और उत्तर भाव की पारम्परिक सम्बद्धता संगठित एवं सुस्थिर रहती है।

[४७०]

स्वनिवृत्तिस्वभावत्वे क्षणस्य नापरोदयः ।
अन्यजननस्वभावत्वे स्वनिवृत्तिरसंगता ॥

यदि कोई पदार्थ उत्पन्न होकर मिट जाने का स्वभाव लिए हुए हो अर्थात् पहले क्षण उत्पन्न हुआ अगले क्षण नष्ट हुआ, यदि ऐसा हो तो वह अगले क्षण दूसरा पदार्थ उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि वह अन्य को उत्पन्न करने का स्वभाव लिए हुए माना जाए तो उसकी निवृत्ति—नाश असंगत ठहरता है। जो स्वयं उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाए, वह अन्य को कैसे उत्पन्न करे।

[४७१]

इत्थं द्वयैकभावत्वे न विरुद्धोऽन्वयोऽपि हि ।
व्यावृत्त्याद्येकभावत्वयोगतो भाव्यतामिदम् ॥

यदि एक पदार्थ में दोनों भाव—पूर्व पर्याय की व्यावृत्ति—निवृत्ति या विनाश तथा दूसरे पर्याय का उत्पाद स्वीकार किया जाए तो अन्वय संगति में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। इस पर चिन्तन करें।

[४७२]

अन्वयोऽस्य न आत्मा चित्रभावो यतो मतः ।
न पुनर्नित्य एवेति ततो दोषो न कश्चन ॥

आत्मा एकान्त रूप में नित्य नहीं है। मूल रूप में नित्य होने के बावजूद उसमें भिन्न भाव पर्यायों की दृष्टि से विविधता—विभिन्न रूपात्मकता है। ऐसा मानने में कोई दोष नहीं आता। ऐसा हमारा दृष्टिकोण है।

[४७३]

न चात्मदर्शनादेव स्नेहो यत् कर्महेतुकः।
नरात्म्येऽप्यन्यथाऽयं स्याज्ज्ञानस्यापि स्वदर्शनात ॥

आत्मा के दशन से आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व मानने से स्नेह—आसक्ति उत्पन्न होती है ऐसा कहना संगत नहीं है। आसक्ति तो कर्म जनित है।

नैरात्म्यवादी दर्शन में जहाँ आत्मा को क्षणिक माना जाता है वहाँ उस क्षण में ज्ञान द्वारा आत्म दर्शन या आत्म-स्वीकार अपने आपका स्वीकार तो होता ही है। यदि यही आसक्ति का कारण हो तो नैरात्म्यवादी के लिए भी वैसा ही होगा। वह आसक्तिग्रस्त बनेगा। वास्तव में आत्म दर्शन से आसक्ति होने का खतरा बताकर आत्मा की स्वतन्त्र शाश्वत सत्ता स्वीकार न करना समुचित नहीं है।

[४७४]

अध्रुवेक्षणतो नो चेत कोऽपराधो ध्रुवेक्षणे।
तद्गता कालचिन्ता चेन्नासौ कर्मनिवर्तित ॥

अध्रुवेक्षण—क्षणवादी दर्शन से—आत्मा को क्षणिक मानने से आसक्ति नहीं होती यों मानते हो तो ध्रुवेक्षण—शाश्वत आत्मवादी दर्शन ने क्या अपराध किया है उसके सन्दर्भ में भी कुछ चिन्तन करो। आत्मवाद के स्वीकार में काल चिन्ता—भविष्य में आसक्ति होने का जो भय देखते हो वैसा कुछ नहीं है। ज्योंही कर्मों की निवृत्ति हो जाती है, आसक्ति, स्नेह ममता—सब मिट जाते हैं।

[४७५]

उपप्लववशात प्रेम सर्वत्रैवोपजायते।
निवृत्ते तु न तत् तस्मिन ज्ञाने ग्राह्याद्विरूपवत ॥

सर्वत्र उपप्लव—मोह माया आदि के कारण प्रेम उत्पन्न होता है। जब मोह नहीं रहता, माया नहीं रहती तो प्रेम या आसक्ति नहीं होती।

संकल्प विकल्प नष्ट हो जाते हैं। ग्राह्य पदार्थ ज्ञान में विप्रतिपत्ति पैदा नहीं करते। आत्मा आसक्तिग्रस्त नहीं होती।

[४७६]

स्थिरत्वमित्थं न प्रेम्णो यतो मुख्यस्य युज्यते।
ततो वैराग्यसंसिद्धेर्मुक्तिरस्य नियोगतः ॥

प्रेम, जिसे बन्धन का मुख्य हेतु माना जाता है, अपने आप में स्थिर नहीं है। वह तो जैसा कहा गया है, मोह आदि से जनित है। उनके मिट जाने पर वैराग्य—रागातीत या अनासक्त भाव उत्पन्न हो जाता है। फलतः मुक्ति प्राप्त होती है।

[४७७]

बोधमात्रेऽद्वये सत्ये कल्पिते सति कर्मणि।
क्व सदाऽस्याभावादि नेति सम्यग् विचिन्त्यताम् ॥

बोध को ही एकमात्र सत्य—तत्त्वरूप में स्वीकार किया जाए तो कर्म कल्पित—अयथार्थ सिद्ध होता है। वैसा होने पर वैराग्यादि से प्रतिफलित मुक्ति, शुभ, अशुभ, क्रिया से प्रतिफलित सुख-दुःख आदि या तो सदा प्राप्त रहें या अप्राप्त रहें। क्योंकि जब कर्म है ही नहीं, मात्र ज्ञान है तो उस (ज्ञान) की अनुकूल प्रतिकूल स्थिति में अनुरूप सब होगा। पर, इस जगत् में वस्तुस्थिति वैसी है नहीं। इस पर सम्यक् रूप में विचार करें।

[४७८]

एवमेकान्तनित्योऽपि हन्तात्मा नोपपद्यते।
स्थिरस्वभाव एकान्ताद् यतो नित्योऽभिधीयते ॥

आत्मा को एकान्त नित्य मानना भी युक्तिसंगत नहीं है। एकान्त नित्य का तात्पर्य आत्मा का स्थिर—अपरिवर्तनशील, अपरिणमनशील स्वभाव-युक्त होना है।

[४७९]

तदस्य कर्मभावः स्याद् मोक्षभावोऽथवा भवेत्।
उभयानुभयभावो वा सर्वथापि न युज्यते ॥

आत्मा को एकान्त नित्य मानने से उसमें या तो एकान्ततः कर्तृ भाव होगा या भोक्तृभाव होगा। अर्थात् वैसी स्थिति में आत्मा या तो एकान्त रूप कर्त्ता होगी या भोक्ता। कर्तृत्व, भोक्तृत्व—दोनों भाव उसमें एक साथ घटित नहीं होंगे।

[४८०]

एकान्तकर्तृभावत्वे कथं भोक्तृत्वसंभवः ।
भोक्तृभावनियोगेऽपि कर्तृत्वं ननु दुःस्थितम् ॥

एकान्त रूप में कर्तृ भाव होने से भोक्तृ भाव सम्भव नहीं होता। उसी प्रकार एकान्ततः भोक्तृ भाव होने पर कर्तृ भाव का होना कठिन है—कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता।

[४८१]

न चाकृतस्य भोगोऽस्ति कृतस्य चाभोग इत्यपि ।
उभयानुभयभावत्वे विरोधासम्भवौ ध्रुवौ ॥

अकृत—नहीं किए हुए का भोग नहीं होता—जो किया ही नहीं गया है, उसे भोगना कैसे सम्भव हो। कृत—किये हुए का अभोग नहीं होता—जो किया गया है, उसको भोगना ही होगा। वह अभुक्त कैसे रहेगा? यदि आत्मा में उभय—कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व—दोनों ही स्थितियाँ मानी जायें तो सिद्धान्त में विरोध आयेगा। उसका यों मानना उसके कथन के विरुद्ध होगा। यदि आत्मा में अनुभय—दोनों ही स्थितियाँ न मानी जायें तो यह एक असम्भव बात होगी।

[४८२]

यत्तयोभयभावत्वेऽप्यभ्युपेतं विरुध्यते ।
परिणामित्वसंगत्या न त्वागोऽस्मत्परोऽपि च ॥

आत्मा का उभय भावत्व—आत्मा कर्ता है, भोक्ता है—यों उसके दोनों स्वरूपों का स्वीकार प्रतिवादी के विरुद्ध जाता है, जो उसे एकान्त नित्य मानता है। अतएव आत्मा का परिणामित्व—परिणमनशीलता मानना संगत है। ऐसा मानने से कहीं कोई दोष नहीं आता।

[४८३]

एकान्तनित्यतायां तु तत्तथैकस्वभावतः ।
भवापवर्गभेदोऽपि न मुख्य उपपद्यते ॥

आत्मा की एकान्त नित्यता मान लेने पर वह सर्वथा एक ही रूप में अवस्थित रहेगी। वैसी स्थिति में संसार और मोक्ष—आत्मा की संसारावस्था तथा मुक्तावस्था के रूप में कोई भेद घटित नहीं होता, जो वस्तुतः मुख्य भेद है।

[४८४]

स्वभावापगमे यस्माद् व्यक्तैव परिणामिता।
तथाऽनुपगमे त्वस्य रूपमेकं सदैव हि ॥

अपेक्षा भेद से आत्मा अपना स्वभाव का (अंशतः) परित्याग कर दूसरे स्वभाव को ग्रहण करती है। अथवा जब आत्मा मोक्ष प्राप्त करती है तो संसारावस्था रूप स्वभाव का परित्याग होता है, तत्प्रतिकूल शुद्धात्मक स्वभाव का अधिगम होता है। इससे आत्मा की परिणामिता—परिणमनशीलता स्पष्ट है। यदि आत्मा परिणमनशील न हो तो सदा उसका एक ही रूप रहे।

यहाँ स्वभाव शब्द आत्मा के पर्यायात्मक स्वरूप के विषय में प्रयुक्त है जो परिवर्तनशील है।

[४८५]

तत पुनर्भाविक वा स्यादापवर्गिकमेव वा।
आकालमेकमेतद्धि भवमुक्तौ न सङ्गते ॥

उपर्युक्त रूप में यदि यह स्वीकार किया जाये कि आत्मा सदा एक ही रूप में रहती है तो उसका प्रतिफल यह होगा कि या तो वह सदा संसारिक रूप में रहेगी या मोक्षावस्था में रहेगी। संसारावस्था में आना या उससे छूटना—ये दोनों ही बातें वहाँ घटित नहीं होतीं। क्योंकि यदि वह संसार में है तो सदा से है, सदा रहेगी। यदि वह मोक्ष में है तो वहाँ भी वैसी ही स्थिति होगी।

[४८६]

बन्धाच्च भवससिद्धि सम्बन्धश्चित्रकायत ।
तस्यकान्तकभावत्वे न स्वेपोप्यनिबन्धन ॥

कम-बन्ध से ससारावस्था प्राप्त होती है। कम बन्ध विविध प्रवत्तिया के कारण होता है जिसका प्रतिफल आत्मा के सामारिक अस्तित्व की भिन्न भिन्न दशाओं तथा अनुभूतियो म प्राप्य है। यदि आत्मा म एकान्त रूप मे एकभावत्व—एकभावात्मकता—अपरिवतनशीलता मानी जाये तो सासारिक रूपा अनुभवों आदि की भिन्नता का फिर कोई कारण उपलब्ध नही होगा। कारण के बिना काय हो, यह असम्भव है।

[४८७]

नपस्यैवाभिधानाद् य सातावन्ध प्रकीत्यत।
अहिशङ्काविषघाताच्चेतरो सो निरथक॥

किसी को केवल नाम से राजा होन के कारण राजोचित सुख नही मिल सक्त। इसी प्रकार किसी का साँप काट गया हो मात्र एसी शका म उसके विष नही चढ जाता। ये मिथ्या कल्पनाएँ है। एसा ही स्थिति आत्मा के एकान्त नित्यत्व सिद्धान्त की है। कहने भर को कोई चाहे वसा कहे पर वास्तव म वसा होता नहीं।

[४८८]

एव च योगमार्गोऽपि मुक्तये य प्रकल्प्यते।
सोऽपि निर्विषयत्वेन कल्पनामात्रभद्रक ॥

यदि एकान्त नित्यत्व का सिद्धान्त मान लिया जाए तो मुक्ति के लिए जो योग माग बताया जाता है, उसका फिर कोई लक्ष्य नही रह जायेगा। वह केवल कहने भर के लिए सुन्दर होगा।

[४८९]

दिदृक्षादिनिवृत्याद्नि पूवसूयुदित तथा।
आत्मनोऽपरिणामित्वे सवमेतदपायकम् ॥

पुरुष का दिदक्षा—दखने की इच्छा की निवत्ति हतु प्रकृति सृष्टि-

क्रम से प्रवृत्त होती है, ऐसा सांख्य-योग के पूर्ववर्ती आचार्यों ने कहा है।

यह भी पुरुष (आत्मा) के अपरिणामी होने पर निरर्थक सिद्ध होता है।

जैसाकि सांख्याचार्य ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में उल्लेख कि
है, सृष्टि क्रम के सम्बन्ध में सांख्य-दर्शन में माना गया है कि पुरुष के
दर्शनार्थ पुरुष—प्रकृति, महत्, अहंकार, पाँच तन्मात्राएँ, मन, पाँच ज्ञाने
न्द्रिय पाँच कर्मेन्द्रिय तथा पाँच महाभूत—इन सबको देखे, इस हेतु तथ
पुरुष के कैवल्य—मोक्ष हेतु प्रकृति की प्रवृत्ति होती है।[1]

इसका अभिप्राय यह है—जो पुरुष की दिदृक्षा निवृत्त होगा, अप
स्वरूप का उसे भान होगा। (पच्चीस) तत्त्वों का सम्यक् ज्ञान कर वह मुक्त
हो जायेगा।[2]

महर्षि पतंजलि ने भी इसी आशय की ओर संकेत किया है कि द्रष्टा
(पुरुष या आत्मा) को दर्शन में प्रवृत्त करने हेतु, उसका अपवर्ग—मोक्ष
साधन हेतु दृश्य—प्रकृति आदि का प्रयोजन है।[3]

इन संदर्भों को दृष्टि में रखते हुए ग्रंथकार का प्रतिपादन है कि
पुरुष यदि अपरिणामी है तो यह सब असिद्ध होता है। पुरुष के परिणाम
शील होने पर ही ऐसा संभाव्य है।

[४६०]

परिणामित्वतो नीत्या चित्रभावे तथाऽऽत्मनि ।
अवस्थाभेदसंगत्या योगमार्गस्य संभवः ॥

आत्मा परिणामी तथा विविध भावापन्न है, यह न्याय-संगत है। ऐसा
होने से ही उसमें भिन्न भिन्न अवस्थाएँ संगत ठहरती हैं। तभी योगमार्ग
की संभावना घटित होती है।

---

१ पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ —सांख्यकारिका २१

२ पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः ।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥—सांख्यकारिका १ गौडपाद

३ तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा । —पातञ्जल योगसूत्र २।२१

[४६१]

तत्स्वभावत्वतो यस्मादस्य तात्त्विक एव हि ।
क्लिष्टस्तदन्यसयोगात परिणामो भवावह ॥

आत्मा का ऐसा अपना स्वभाव है, अतएव उसकी परिणमनशीलता तात्त्विक—वास्तविक है। अन्य—विजातीय पदार्थों के सयोग से आत्मा क्लेशमय ससारावस्था मे परिणत होती है।

अविद्या—अज्ञान, अस्मिता—मोह राग—महामोह द्वेष—द्विष्ट भाव एव अभिनिवेश—सासारिक विषयासक्ति तथा मृत्यु द्वारा सासारिक विषयो के वियोग की भीति—योग मे ये पाँच क्लेश कहे गये है।

[४६२]

स योगाभ्यासजेयो यत्तत्क्षयोपशमादित ।
योगोऽपि मुख्य एवेह शुद्ध यवस्यास्वलक्षण ॥

योगाभ्यास द्वारा आत्मा के क्लेशात्मक परिणामो का उपशम एव क्षय होता है। आत्मशुद्धि की अवस्था योग का लक्षण है—योग से आत्म शुद्धि अधिगत होती है।

[४६३]

ततस्तया तु साध्वेव तदवस्थान्तर परम ।
तदेव तात्त्विकी मुक्ति स्यात तदन्यवियोगत ॥

योग द्वारा आत्मा क्रमशः विकास करती हुई पर साधु—परम उत्तम—अत्यन्त उत्कर्षमय अवस्था प्राप्त करती है। तत्त्वत वही मुक्ति है। क्योंकि तदन्य—आत्मेतर विजातीय तत्त्व कम आदि से उसका वियोग हो जाता है—बन्धन से छुटकारा हो जाता है।

[४६४]

अत एव च निर्दिष्ट नामास्यास्तत्त्ववेदिभि ।
वियोगोऽविद्यया बुद्धि कत्स्नकमक्षयस्तथा ॥

यही कारण है तत्त्ववेत्ताओं ने अविद्या से वियोग, बुद्धि (बोध) तथा सवकर्मक्षय आदि विशेषतामूलक नामों से इसे अभिहित किया है।

ये संज्ञाएँ क्रमशः वेदान्त, बौद्ध तथा जैन दर्शन से सम्बद्ध हैं।

[४६५]

शैलेशीसंज्ञिताच्चेह समाधेरुपजायते ।
कृत्स्नकर्मक्षयः सोऽयं गीयते वृत्तिसंक्षयः ॥

विकास के पथ पर आगे बढ़ती हुई आत्मा अन्ततः शैलेशी समाधि—पर्वतराज मेरु के सदृश अडोल, अप्रकम्प, स्वनिष्ठ एवं सुस्थिर अवस्था प्राप्त कर लेती है। समग्र कर्म क्षीण हो जाते हैं। उसे वृत्तिसंक्षय कहा जाता है।

[४६६]

तथा तथा क्रियाविष्टः समाधिरभिधीयते ।
निष्ठाप्राप्तस्तु योगज्ञैर्मुक्तिरेष उदाहृतः ॥

क्रम पर्यवसित साधन शुद्धावस्था प्राप्त करने, आत्मस्थ होने का क्रम समाधि—आत्मलीनता है। परिपक्वावस्था पा लेने पर—सर्वकर्मनिवृत्ति रूप परम शुद्धावस्था निष्पन्न हो जाने पर उसे योगवेत्ताओं ने मुक्ति कहा है।

[४६७]

संयोगयोग्यताभावो यदिहात्मतदन्ययोः ।
ततो न जातु संयोगो भूयो नैव भवस्ततः ॥

यह वह अवस्था है जहाँ आत्मा के कर्म के साथ संयोग की—कर्म बाँधने की योग्यता का अभाव हो जाता है। फिर आत्मा का कर्मों के साथ संयोग या सम्बन्ध नहीं होता। इसीलिए उसे पुनः कभी संसार में—जन्म-मरण के चक्र में आना नहीं पड़ता।

[४६८]

योग्यताऽऽत्मस्वभावश्चेत् कथमस्या निवर्तनम् ।
तत्तत्स्वभावतायोगादेतल्लेशेन दर्शितम् ॥

योग्यता जब आत्मा का स्वभाव है तब उसकी निवृत्ति कैसे सम्भव है ?

इसका उत्तर है—प्रस्तुत योग्यता का निवर्तन—अपगम करना भी आत्मा का स्वभाव है जिसके कारण योग्यता निवृत्त हो जाती है।

बोलते और प्रकाश इसी विषय पर डाला जा रहा है।

रिणामित्व ।

[४६६-५००]

स्वनिवृत्तिः स्वभावश्चेदेवमस्य प्रसज्यते ।
अस्त्वेवमपि नो दोष कश्चिदत्र विभाव्यते ॥

परिणामित्व एवतत सम्यगस्योपपद्यते ।
आत्माभावेऽयथा तु स्यादात्मसत्त्वदश्च न ॥

एक ओर कर्म बाँधने की योग्यता आत्मा का स्वभाव है, दूसरी ओर इस योग्यता का निवर्तन भी उसका स्वभाव है। प्रश्न उपस्थित होता है योग्यता का निवर्तन क्या स्वनिवृत्ति—अपने स्वभाव का—स्वरूप का निवर्तन नहीं है?

इसका उत्तर है, किसी अपेक्षा से ऐसा हो, उसमें कोई दोष नहीं आता।

आत्मा के परिणमनशील स्वभाव के कारण वह उपयुक्त ही है। आत्मा का कभी सर्वथा अभाव नहीं होता। सत्ता रूप में वह सदा सुस्थिर है। पर एक अवस्था छोड़ना, दूसरी में जाना, ऐसा तो उसके होता ही है। जब एक अवस्था छोड़ी जाती है तो आत्मा के उस अवस्थावर्ती भाव का अपगम होता है। वह अपगम आत्मा के ध्रुव अस्तित्व का अभाव नहीं है।

[५०१]

स्वभावविनिवृत्तिश्च स्थितस्यापीह दृश्यते ।
घटादेर्नवतात्यागे तथा तद्भावसिद्धित ॥

जो वस्तु स्थित है—स्थिरतया विद्यमान है उसमें स्वभाव विशेष का परित्याग दिखाई देता ही है। जैसे घट आदि पदार्थ नवीनता को छोड़ते हैं—अपने नवीन भाव का व्यतीत होते समय के साथ परित्याग करते हैं दूसरे भाव को स्वीकार करते हैं पर उनका मूल भाव—मौलिक अस्तित्व विद्यमान रहता है।

योगशतक

मगलाचरण—

[१]

नमिऊण जोगिनाहं सुजोगसदंसग महावीर।
वोच्छामि जोगलेस जोगज्झयणाणुसारेण ॥

योगियो के स्वामी —परम आराध्य सुयोग-सदर्शक—आत्मोत्थान कारी उत्तम योग मार्ग दिखानेवाले भगवान महावीर को नमस्कार कर मैं (अपने द्वारा किये गये) योगशास्त्रो के अध्ययन के अनुरूप सक्षप मे योग का विवेचन करूँगा।

निश्चय-योग—

[२]

निच्छयओ इह जोगो सन्नाणाईण तिण्ह सबधो।
मोक्खेण जोयणाओ निद्दिट्ठो जोगिनाहेंहि ॥

निश्चय-दृष्टि मे सदज्ञान—सम्यक्ज्ञान आदि अर्थात सम्यक् ज्ञान, सम्यकदर्शन तथा सम्यकचारित्र—इन तीनो का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना योग है, ऐसा योगीश्वरो ने बतलाया है। वह आत्मा का मोक्ष के साथ योजन—योग करता है—आत्मा को मोक्ष से जोडता है इसलिए उसकी 'योग' सज्ञा है।

[३]

सन्नाण वत्थुगओ बोहो सद्दसण तु तत्थ रुई।
विहिपरिसेहाणुग

बोध—वस्तुस्वरूप का यथार्थ ह।

रुचि—आन्तरिक स्पृहा निष्ठा सम्यक्दर्शन है। शास्त्रोक्त विधि निषेध के अनुरूप उसका आचरण—जीवन में क्रियान्वयन सम्यक्चारित्र है। अर्थात् शास्त्रों में जिन कार्यों के करने का विधान है, उन्हें यथाविधि करना तथा जिनका निषेध है उन्हें न करना—सम्यक्चारित्र कहा जाता है।

व्यवहार योग—

[४]

ववहारओ य एसो विन्नेओ एयकारणाण वि।
जो सबंधो सो वि य कारणकज्जोवयाराओ॥

कारण में कार्य के उपचार की दृष्टि से सम्यक्ज्ञान सम्यक्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र के कारणों का आत्मा के साथ सम्बन्ध भी व्यवहारतः योग कहा जाता है।

[५]

गुरुविणओ सुस्सूसाइया य विहिणा उ धम्मसत्थेसु।
तह चेवाणुट्ठाण विहिपडिसेहेसु जह सत्ती॥

धर्मशास्त्रों में बतायी गयी विधि के अनुरूप गुरुजनों का विनय, शुश्रूषा—सेवा, परिचर्या, उनसे तत्त्वज्ञान सुनने की उत्कंठा तथा अपनी क्षमता के अनुरूप शास्त्रोक्त विधि निषेध का पालन अर्थात् शास्त्रविहित आचरण करना और शास्त्रनिषिद्ध आचरण न करना व्यवहार-योग है।

[६]

एत्तो चिय कालेण नियमा सिद्धी पगिट्ठरूवाण।
सन्नाणाईण तहा जायइ अणुबंधभावेण॥

इससे—व्यवहार-योग के अनुसरण से कालक्रम से प्रकृष्टरूप—उत्तरोत्तर विशेष शुद्धि प्राप्त करते सम्यक्ज्ञान आदि की—निश्चय-योग की सिद्धि अविच्छिन्न रूप में निष्पन्न होती है।

[७]

अद्धेण गच्छंतो सम्मं सत्तीए इट्ठपुरपहिओ।
जह तह गुरुविणयाइसु पयट्टओ एत्थ जोगित्ति॥

अनुमान आदि द्वारा तथा सवज्ञ भाषित—शास्त्र आदि द्वारा उसके
म जानते हैं।

अपुनर्बन्धक आदि की पहिचान—

[१३]

पाव न तिव्वभावा कुणइ न बहु मन्नई भव घोर।
उचियट्ठिइ च सेवइ सव्वत्थ वि अपुणबधो त्ति ॥

जो तीव्र भाव—उत्कट कलुषित भावना पूर्वक पाप कर्म नहीं
जो घोर—भीषण भयावह संसार को बहुत नहीं मानता—उसमें
या रचा-पचा नहीं रहता जो लौकिक, पारिवारिक, सामाजिक, धार्मि
सभी कार्यों म उचित स्थिति न्यायपूर्ण मर्यादा का पालन करता है
अपुनर्बन्धक है।

[१४]

सुस्सूस धम्मराओ गुरुदेवाण जहासमाहीए ।
वेयावच्चे नियमो सम्मदिट्ठिस्स लिंगाई ॥

धार्मिक तत्त्व सुनने की इच्छा धर्म के प्रति अनुराग आ
आत्मशान्ति या श्रद्धासभृत सुस्थिर भाव स नियमपूर्वक गुरु
सेवा परिचर्या—ये सम्यक्दृष्टि जीव के चिह्न है।

[१५]

मग्गणुसारी सद्धो पन्नवणिज्जो कियावरो
गुणरागी सक्कारम्भसगओ तह य चारित्ती

स माग का अनुसरण करने वाला, श्रद्धावान्
क्रियाशील—धर्मक्रिया म अनुरत, गुणों मे अनुरागी,
साधना म यत्नशील व्यक्ति चारित्री कहा जाता है।

[१६]

एसो सामाइयसुद्धिभेयओऽणेगहा
आणापरिणइभेया अते जा वीयरागो

शुद्धि के भेद मे—समत्व साधना की तरतमता से तथा वीतराग आज्ञा—शास्त्रज्ञान की परिणति—जीवन म क्रियाँ वति के अनुसार अनेक प्रकार का होता है यह जानना चाहिए।

सामायिक शुद्धि अशुद्धि—

[१७]

पडिसिद्धसु य देसे विहिएसु य ईसिरागभावे वि।
सामाइय असुद्ध सुद्ध समयाए दोसु पि ॥

शास्त्र म जिनका निपध किया गया है, एस विपया म द्वप—अप्रीति जिन विपयो का शास्त्र म विधान किया गया है उनके सम्बन्ध म थोडा भी राग—इनके कारण सामायिक अशुद्ध हो जाती है। जो इन दोना में—निपिद्ध और विहित म समभाव रखता है उसके सामायिक शुद्ध होती है।

[१८]

एय विसेसनाणा आवरणावगमभेयओ चव ।
इय दट्ठव पम्म भूसणठाणाइपत्तिसम ॥

विशेष ज्ञान के कारण तथा कर्मावरण हटने की तरतमता के कारण वह शुद्ध सामायिक सम्यक्दशन के लाभ के परिणाम-स्वरूप जीवन में फलित होने वाले शुभ चिह्नो म से कौशल तीर्थसेवन भक्ति स्थिरता तथा प्रभावना जो भूषण कहे जाते हैं के सिद्ध होने पर एव आसन आदि के सिद्ध होने पर प्रथम सामायिक अथवा सम्यक्त्व-सामायिक है, ऐसा जानना चाहिए।

ग्रन्थकार आचाय हरिभद्रसूरि ने सम्बोधप्रकरण नामक अपने एक दूसरे ग्रन्थ म तथा उत्तरवर्ती उपाध्याय यशोविजयजी न अपनी 'सम्यक्त्व षट्स्थान' नामक कृति म इस सन्दभ म विशेष रूप स चर्चा की है। उनके अनुसार सम्यक्दशन जिस पातञ्जल योग की भाषा में विवेकख्याति कहा जा सकता है जो सामायिक शुद्धि की पहली सीढी है, प्राप्त हो जाने पर जीवन म सहजतया एक परिवतन आ जाता है। जीवन की दिशा बदल जाती है। फलस्वरूप जीवन व्यवहार में चिन्तन क्रम में कुछ ऐसी विशेष

सायें आ जाती हैं जिससे विवेक प्रसूत पवित्रता का दिग्दर्शन होता है। यहाँ वे सम्यक्त्व के सडसठ चिन्हों के रूप में व्याख्यात हुई हैं। उनमें उपयुक्त कौशल आदि पांच 'भूषण' संज्ञा में अभिहित हुए हैं।

[१९]

किरिया उ दडजोगेण चक्कभमण व होइ एयस्स।
आणाजोगा पुव्वाणुवेहओ चेव नवर ति ॥

चक्र को डण्डे से घुमा देने पर जैसे वह चलने लगता है उसी प्रकार उक्त साधक की जीवन चर्या व्यावहारिक क्रिया प्रक्रिया शास्त्रयोग से—शास्त्रानुशीलन से प्राप्त पूर्व संस्कारों द्वारा चलती रहती है।

[२०]

वासीचदणकप्पो समसुहदुक्खो मुणी समक्खाओ।
भवमोक्खापडिबद्धो अओ य पाएण सत्थेसु ॥

शास्त्रों में मुनि को वासि चन्दनसदृश कहा गया है - जो वसूला, कुल्हाड़ा चन्दन के वृक्ष को काटता है वह वृक्ष उसको भी सुगन्धित करता है। उसी प्रकार साधु बुरा करने वाले का भी भला करता है। वह सुख दुःख में समान भाव रखता है। जब कोई उसकी देह को वसूले से छीलता है और उसकी देह पर चन्दन का लेप करता है, वह दोनों को ही समान मानता है। न वह देह छीलने वाले पर क्रुद्ध होता है तथा न वह चन्दन का लेप करने वाले पर प्रसन्न होता है। वह मुनि न संसार में आसक्त होता है और न मोक्ष में ही आसक्ति रखता है। वह अनासक्त भाव से मोक्षोन्मुख क्रिया में तत्पर रहता है।

अधिकारी भेद—

[२१]

एएसि नियनियभूमिगाए उचियं जमेत्थ णुट्ठाणं।
आणामयसंजुत्तं तं सव्वं चेव जोगो त्ति ॥

या ओं अपनी-अपनी उपयुक्त भूमिकाओं के योग्य तथा आज्ञा—

शास्त्राज्ञा रूपी अमृत से युक्त है—शास्त्रनिरूपित दिशा के अनुरूप है वह सभी योग है।

[२२]

तल्लक्खणजोगाओ चित्तवित्तीनिरोहओ चेव।
तह कुसलपवित्तीए मोक्खम्मि य जोअणाओ त्ति ॥

चित्तवृत्ति का निरोध, कुशल—पुण्यात्मक प्रवृत्ति मोक्ष से योजन—योजना—इत्यादि योग के लक्षण भिन्न भिन्न श्रेणी परम्परा आदि के व्यक्तियों के समुचित अनुष्ठान मे घटित हैं—संगत हैं।

[२३]

एएसि पि य पायऽपज्झाणाजोगओ उ उचियम्मि।
अणुट्ठाणम्मि पवित्ती जायइ तह सुपरिसुद्धि त्ति ॥

दूषित ध्यान एव संक्लेशमय संस्कारों के न होने के कारण इन भिन्न-भिन्न अधिकारियो—योग्य साधको की अपने अपने अनुष्ठान मे प्रवृत्ति—योगाभ्यास आदि साधनाक्रम सुपरिशुद्ध होता है।

[२४]

गुरुणा लिंगेहिं तओ एएसिं भूमिगं मुणेऊण।
उवएसो दायव्वो जहोचियं ओसहाहरणा ॥

गुरु को चाहिए कि वे उनके लक्षणों से उनकी भूमिका पहचानें और उनके लिए जैसा उचित समझें, उपदेश करें, जैसे सुयोग्य चिकित्सक भिन्न भिन्न रोगियों की दैहिक स्थिति, प्रकृति आदि देखते हुए औषधि औषधि की मात्रा, अनुपान, पथ्य आदि सब बातों का ध्यान रखकर जिस रोगी को जिस प्रकार जो औषधि देनी हो देता है।

प्रथम श्रेणी का साधक—

[२५]

पढमस्स लोकधम्मे परपीडावज्जणाइ ओहेण।
गुरुदेवातिहिपूयाइ दीणदाणाइ अहिगिच्च ॥

अपुनबन्धक जैसे प्रथम भूमिका में साधारण साधक को परपीड़ा वर्जन—दूसरों को कष्ट न देना, गुरु, देव तथा अतिथि की पूजा—सत्कार, सेवा आदि, दीन जनों को दान, सहयोग आदि—ये कार्य करते रहने का उपदेश करना चाहिए।

[२६]

एय चिय अवयारो जायइ मग्गम्मि हुवि एयस्स।
रण्णे पहपब्भट्ठो वट्टाए वट्टमोयरइ ॥

जैसे वन में मार्ग भूले हुए पथिक को पगडण्डी बतला दी जाये तो वह उससे अपने सही मार्ग पर पहुँच जाता है वैसे ही वह साधक लोक धर्म के माध्यम से अध्यात्म में पहुँच जाता है।

द्वितीय श्रेणी का साधक—

[२७ २८]

बीयस्स उ लोगुत्तरधम्मम्मि अणुव्वयाइ अहिगिच्च।
परिसुद्धाणाजोगा तस्स तहाभावमासज्ज ॥

तस्साऽऽसन्नतणओ तम्मि दढं पक्खवायजोगाओ।
सिग्घं परिणामाओ सम्मं परिपालणाओ य ॥

विशुद्ध आज्ञा योग शास्त्रीय विधिक्रम के आधार पर दूसरी श्रेणी के साधक (सम्यग्दृष्टि) के भाव—परिणाम आदि की परीक्षा कर उसे लोकोत्तर धर्म—अध्यात्म धर्म—अणुव्रत आदि का उपदेश करना चाहिए। यही उपदेश परिपालन की दृष्टि से उसके सन्निकट है। इसी में उसकी विशेष अभिरुचि संभावित है। इसका फल शीघ्र प्राप्त होता है तथा सरलता से इसका पालन किया जा सकता है।

तृतीय श्रेणी का साधक—

[२९]

तइयस्स पुण विचित्तो तदुत्तरसुजोगसाहणो भणिओ।
सामाइयाइविसओ नयनिउणं भावसारो त्ति ॥

तीसरी श्रेणी के साधक (चारित्री) को नीति-युक्तिपूर्वक सामायिक आदि से सम्बद्ध परमार्थोद्दिष्ट भावप्रधान उपदेश देना चाहिए जिससे वह उत्तम योगसिद्धि की ओर बढ़ता जाये।

गही साधक—

[३० ३२]

स धम्माणुवरोहा वित्ती दाण च तेण सुविसुद्ध ।
जिणपूय भोयणविही सझानियमो य जोग तु ॥
चियवदण-जइविस्सामणा य सवण च धम्मविसयति ।
गिहिणो इमो वि जोगो किं पुण जो भावणामग्गो ॥
एमाइ वत्थुविसओ गहीणमुवएसमो मुणयव्वो ।
जइणो पुण उवएसो सामायारी तहा सव्वा ॥

सदधम के अनुरोध स—धमाराधना म बाधा न आये यह ध्यान म रखते हुए गही साधक अपनी आजीविका चलाये विशुद्ध—निर्दोष दान दे वीतराग की पूजा करे यथाविधि भोजन कर सध्याकालीन उपासना के नियमो का पालन करे। यह योग के अन्तगत है।

चैत्य-वन्दन यति—त्यागी साधु को स्थान पात्र आदि का सहयोग उनसे धम-श्रवण—गृही के लिए यह सब योग है। फिर भावना माग का अभ्यास करे—मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ्य तथा अनित्यत्व अशरणत्व ससार, एकत्व, अन्यत्व अशुचित्व आस्रव सवर निजरा धमस्वाख्यातत्व लोक बोधिदुलभत्व—मन म ये उत्तम भावनाए लाने उनसे अनुभावित एव अनुप्राणित होने की तो बात ही क्या वह तो योग का पावन पथ है ही।

यह जो उपदेश किया गया है गहस्थ के लिए समझना चाहिए। साधु के लिए उपदेश समाचारी—आचार—विधि म आ जाता है।

समाचारी—

[३३ ३५]

गुरुकुलवासो गुरुतत्तयाए उचियविणयस्स करण च ।
वसहीपमज्जणाइसु जत्तो तह कालवेक्खाए ॥

मणिगूहणा बलम्मी सव्वत्थ पवत्तण पसंतीए ।
नियलाभचिंतण सइ अणुग्गहो मे त्ति गुरुवयण ॥
संवरनिच्छिड्डत्त सुद्धुञ्छजीवण सुपरिसुद्ध ।
विहिसज्झाओ मरणादिवेक्खण अइजणुवएसो ॥

गुरु के तन्त्र—आज्ञा म रहते हुए गुरुकुल म निवास करना, यथोचित रूप म विनय धम का पालन करना यथासमय अपन रहन के स्थान के प्रमा जन आदि म यत्नशील रहना अपना बल छिपाये बिना—मैं क्या इतना कष्ट करूँ, इस संकीण भावना म अपना बल न छिपाते हुए अर्थात् अपनी पूरी शक्ति लगाते हुए सभी कार्यों म शान्तभाव स प्रवृत्त रहना, गुरु के वचनो का पालन करन म मेरा लाभ—कल्याण है यो सदा चिन्तन करना, निर्दोष रूप म सयम का पालन करना, विशुद्ध भिक्षावृत्ति स जीवन निर्वाह करना यथाविधि स्वाध्याय करना तथा मृत्यु जस कष्टो का सामना करन को समुद्यत रहना—यह यति धम है ।

उपदेश नियम—

[३६]

उवएसो विसयम्मी विसए वि अणीइसो अणुवएसो ।
बंधनिमित्त नियमा जहोइओ पुण भवे जोगो ॥

सुयोग्य साधक को उचित विषय म करन योग्य कार्यों का उपदेश न के साथ साथ उसम बाधा उत्पन्न करने वाली हेय बातो स बचन का पदेश न दिया जाये तो ऊपर योग साधना का जो विधिक्रम बताया गया है ह अवश्य ही बन्धन का कारण बनता है ।

[३७]

गुरुणो अजोगिजोगो अच्चतविवागदारुणो नेओ ।
जोगिगुणहीलणा-नट्ठनासणा धम्मलाघवओ ॥

उपदेष्टा गुरु यदि अयोग्य व्यक्ति को योग का उपदेश करते हैं तो

वह अत्यन्त विपाक दारुण—परिणाम में अत्यधिक कष्टप्रद होता है ऐसा जानना चाहिए। क्योंकि उसमें योगी के गुणों की अवहेलना होती है, वह अयोग्य पुरुष स्वयं अपना नाश करता है तथा औरों का भी नाश करता है। इससे धर्म का हलकापन दीखता है।

[३८]

एयम्मि परिणयम्मी पवत्तमाणस्स अहियठाणेसु ।
एस विही अइनिउण पायं साहारणो नेओ ॥

यो जीवन में परिपक्वता पा लेने के बाद उत्तरवर्ती उत्तम गुणस्थानों में प्रवर्तन करते हुए—चलते हुए साधकों के लिए अत्यन्त निपुणता—सूक्ष्मता पूर्वक कहे जाते नियमों को प्रायः साधारण—सर्वग्राह्य मानना चाहिए।

[३९]

निययसहावालोयण जणवायावगम-जोगसुद्धीहिं ।
उचियत्त नाऊण निमित्तओ सय पयट्टेज्जा ॥

अपने स्वभाव—प्रकृति का अवलोकन करते हुए जनवाद—लोकवाद—लोकपरंपरा को जानते हुए शुद्ध योग के आधार पर प्रवृत्ति का औचित्य समझकर बाह्य निमित्त—शकुन—स्वर, नाड़ी प्रगस्फुरण आदि का प्रयत्न करते हुए उनमें (नियमों के अनुसरण में) प्रवृत्त होना चाहिए।

[४०]

गमणाइएहिं कायं निरवज्जेहिं वयं च भणिएहिं ।
सुहचिंतणेहि य मणं सोहेज्जा जोगसिद्धि त्ति ॥

निर्दोष गमन आदि—यत्नपूर्वक—यतना सहित जाना आना, उठना बैठना, खाना, पीना आदि क्रियाओं द्वारा शरीर का निरवद्य—पापरहित वाणी द्वारा वचन का तथा शुभ चिन्तन द्वारा मन का शोधन करना योगसिद्धि है।

[४१]

सुहसंठाणा अन्ने कायं वायं च सुहसरेणं तु ।
सुहसुविणेहिं च मणं जाणेज्जा साहुसिद्धि त्ति ॥

इस सम्बन्ध में ऐसा भी अभिमत है—शुभ संस्कार—परिष्ठ आचार
प्रकार द्वारा शरीर की शुभ—मधुर, मनोज्ञ स्वर द्वारा वाणी की, शुभ
स्वप्न द्वारा मन की उत्तम सिद्धि समझनी चाहिए।

[४२]

एसो उवाओ य इमो सुहदव्वाइसमवायमासज्ज ।
आसन्नइ गुणठाणे सुगुरुसमीवम्मि विहिणा उ ॥

शुभ द्रव्यादि समवाय—शुभ द्रव्य, शुभ क्षेत्र शुभ काल आदि का
अवलम्बन कर सद्गुरु के सान्निध्य में विधिपूर्वक प्रस्तुत उपाय—क्रिया
समुदय स्वीकार किया जाता है तभी विकासोन्मुख गुणस्थान प्राप्त
होता है।

[४३]

वंदणमाई उ विही निमित्तसुद्धीपहाणमो नेओ ।
सम्म अवेक्खियव्वो एसा इहरा विही न भवे ॥

वन्दन आदि की विधि में निमित्त शुद्धि की प्रधानता है ऐसा जानना
चाहिए। अत अपेक्षित है कि साधक इसका भलीभाँति अवेक्षण—अवलो
कन करे—इस पर चिन्तन विमर्श करे अन्यथा यह विधि परिशुद्ध नहीं
होती।

[४४]

उड्ढं अहियगुणेहिं तुल्लगुणेहिं च निच्चसंवासो ।
तग्गुणठाणोचियकिरियपालणा सइसमाउत्ता ॥

जो अपने से गुणों में ऊँचे हों, समान हों उनका सदा सहवास करना
चाहिए—उनकी सन्निधि में रहना चाहिए। स्मृति समायुक्त होते हुए—
अपनी आचार विधि को स्मरण रखते हुए अपने गुणस्थान के अनुरूप
क्रियाओं का पालन करना चाहिए।

[४५]

उत्तरगुणबहुमाणो सम्म भवरूवचिन्तण चित्ते ।

यह प्रयत्न पारमार्थिक है—साधक की उन्नति की दृष्टि से विशेष लाभप्रद है।

[५०]

चउसरणगमण-दुक्कडगरिहा सुकडाणुमोयणा चेव ।
एस गणो अणवरयं कायव्वो कुसलहेउ त्ति ॥

अर्हत् सिद्ध साधु तथा धर्म—इन चार की शरण, दुष्कृत गर्हा—पापों की निन्दा तथा सुकृत अनुमोदना—शुभ कर्मों का समर्थन, प्रशंसा—इन क्रियाओं को पुण्य हेतु—श्रेयस्कर मानते हुए निरन्तर करते रहना चाहिए।

नवाभ्यासी के प्रमुख कर्म—

[५१-५२]

चरमाणपवत्ताण जोगीण जोगसाहणोवाओ ।
एसो पहाणतरओ नवरं पवत्तस्स विन्नेओ ॥

भावण-सुयपाढो तित्थसवणमसइ तयत्थजाणम्मि ।
तत्तो य आयपेहणमइनिउणं दोसवेक्खाए ॥

ऊपर वर्णित तथ्य चरमपुद्गलावर्त में विद्यमान योगियों के लिए योग साधना का उपाय—आचरणीय विधि है। साधना में प्रवृत्त मात्र योगियों के लिए—नवाभ्यासी साधकों के लिए यहाँ प्रतिपादित किया जा रहा कार्यक्रम प्रमुख उपाय के रूप में समझा जाना चाहिए।

ऐसे साधक को भावना—अनुचिंतना सद्विचारणा, शास्त्र पाठ, तीर्थ सेवन, बार बार शास्त्र-श्रवण उसके अर्थ का ज्ञान, तत्पश्चात् सूक्ष्मता पूर्वक आत्मप्रेक्षण—अपने दोषों तथा कमियों का बारीकी से अवलोकन—इन कार्यों में अभिरत रहना चाहिए।

कर्म प्रसंग—

[५३]

रागो दोसो मोहो एए एत्थाऽऽयदूसणा दोसा ।
कम्मोदयसंजणिया विन्नेया आयपरिणामो ॥

आत्मा को दूषित—कलुषित करने के कारण राग, द्वेष तथा मोह दोष कहे गये हैं। वे कर्मों के उदय मे जनित आत्मपरिणाम है।

[५४]

कम्म च चित्तपोग्गलरुव जीवस्सऽणाइसबद्ध ।
मिच्छत्ताइनिमित्तं नाएणमईयकालसम ॥

कम विविध पुद्गलमय हैं। वे जीव के साथ अनादि काल म सम्बद्ध हैं। मिथ्यात्व, प्रमाद कषाय तथा योग द्वारा वे आत्मा के साथ सपृक्त होते है। भूतकाल के उदाहरण स इन्हे समझना चाहिए।

[५५]

अणुभूयवत्तमाणो सव्वोवेसो पवाहओऽणाइ ।
जह तह कम्म नेय कयकत्त वत्तमाणसम ॥

जो भी भूतकाल है वह वतमान का अनुभव किये हुए है—कभी वह वतमान के रूप में था। फिर भूत के रूप म परिवर्तित हुआ। इस अपेक्षा से वह सादि है पर प्रवाह रूप से अनादि है। कम को भी वैसा ही समझना चाहिए। वह कृतक—कर्ता द्वारा कृत—किया हुआ होन के कारण वतमान के समान है सादि है प्रवाहरूप मे अनादि है।

[५६]

मुत्तेणममुत्तिमओ उवघायाणुग्गहा वि जुज्जति ।
जह विन्नाणस्स इह मइरापाणोसहाईहि ॥

जसे मदिरा पान, औषधि-सेवन आदि का चेतना पर प्रभाव पडता है—मदिरा पीन स मनुष्य अपना होश गँवा बठता है सशक्त रसायनमय औषधि स मरणोन्मुख मूर्छित रोगी भी एक बार होश मे आ जाता है बोल तक लेता है उसी प्रकार मूर्त— रूपी कम का अमूत्त आत्मा पर प्रतिकूल-अनुकूल—बुरा भला प्रभाव पडता है।

[५७]

एवमणाई एसो सबधो कचणोवलाण व ।
एयाणमुवाएण तह वि विओगो वि हवइ ति ॥

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध स्वर्ण तथा मृत्तिका पिण्ड के सम्बन्ध की तरह अनादि है। खान में सोना और मिटटी के ढेले कब से मिले हुए हैं, यह नही कहा जा सकता। यही स्थिति आत्मा और कर्म के पारस्परिक सम्बन्ध की है। ऐसा होते हुए भी उपाय द्वारा उनका वियोग—पार्थक्य साध्य हैं।

[५८]

एव तु बधमोक्खा विणोवयारेण दो वि जुज्जति।
सुहदुक्खाइ य दिट्ठा इहरा ण कय पसंगेण ॥

यो बन्ध तथा मोक्ष दोनों ही आत्मा के साथ यथावत घटित होते हैं। यदि ऐसा न हो तो अनुभव मे आने वाले सुख तथा दुख आत्मा में घटित नही हो सकते।

बोध चिन्तन—

[५९ ६०]

तत्थाभिस्सगो खलु रागो अप्पीइलक्खणो दोसो।
अन्नाण पुण मोहो को पीडइ म दढमिमेसि ॥
नाऊण तओ तव्विसय-तत्त-परिणय विवाग दोसे त्ति।
चितेज्जाऽऽणाइ दढ पइरिक्के सम्ममुवउत्तो ॥

दोषा मे राग—अभिसग या आसक्ति रूप है द्वेष का लक्षण अप्रीति है, मोह अज्ञान है। इनमे स मुझे डटकर—अत्यधिक रूप मे कौन पीड़ा दे रहा है यह समझकर उन दोषा के विषय म—उनके स्वरूप, परिणाम, विपाक आदि का एकान्त मे एकाग्र मन स भलीभाँति चिन्तन करे।

[६१]

गुरु देवयापमाण काउ पउमासणाइठाणण ।
दसमसगाइ काए अगणतो तग्गयज्झप्पो ॥

चिन्तनीय विषय म मन को अनुरयुक्त कर—भलीभाँति लगाकर

पद्मासन आदि में सस्थित होकर शरीर पर होने द्वारा मच्छर आदि के उपद्रव को न गिनता हुआ साधक गुरु तथा देव की साक्षी में चिन्तन करे।

[६२]

गुरुदेवयाहि जायइ अणुग्गहो अहिगयस्स तो सिद्धो ।
एसो य तन्निमित्तो तहाऽप्पभावाओ विन्नेओ ॥

गुरु तथा देव के अनुग्रह से प्रारम्भ किये हुए काय म सफलता प्राप्त होती है। यह अनुग्रह उनके प्रति उत्तम आत्म-परिणाम रखने से प्राप्त होता है।

[६३]

जह चेव मतरयणाइएहि विहिसेवगस्स भव्वस्स ।
उवगाराभावम्मि वि तेसिं होइ त्ति तह एसो ॥

मन्त्र, रत्न आदि स्वयं अपना उपकार नहीं करते हुए जो यथाविधि उनका सेवन—प्रयोग करताहै उनका हित साधते हैं। यही स्थिति गुरु तथा देव के साथ है। उनमे हितसाधकता की असाधारण क्षमता है पर उसका उपयोग दूसरों का उपकार करने में होता है।

[६४]

ठाणा कायनिरोहो तक्कारीसु बहुमाणभावो य ।
दसा य अगणणम्मि वि वीरियजोगो य इट्ठफलो ॥

आसन साधन से देह का निरोध होता है। देह का निरोध करने वाले इन्द्रियजयी साधको के प्रति लोगो मे अत्यधिक आदरभाव उत्पन्न होता है। वे जीव-जन्तुओ द्वारा लगाये गये डक आदि की परवाह नहीं करते। इससे उनमे इच्छित फलप्रद वीर्य योग—यौगिक पराक्रम का उदय होता है।

[६५]

तग्गयचित्तस्स तहोवओगओ तत्तभासणं होइ ।
एयं एत्थ पहाणं अगं खलु इट्ठसिद्धीए ॥

चिन्तन मनन-योग्य विषय मे तन्मयता तथा उपयोग द्वारा तत्व भासित होता है—वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रकाश म आता है। सत्य का उदभास—भान या प्रतीति ही इष्ट सिद्धि का मुख्य अग है।

[६६]

एय खु तत्तनाणं असप्पवित्ति विणिवित्ति सजणग।
थिरचित्तागारि लोगदुगसाहग विंति समयन्नू ॥

शास्त्रज्ञ बतलाते हैं—तत्त्व ज्ञान स असत् प्रवृत्ति का निवारण होता है चित्त मे स्थिरता आती है, ऐहिक तथा पारलौकिक दोनो प्रकार के हित सधते हैं।

[६७]

थीरागम्मि तत्त तस्सि चिंतेज्ज सम्मबुद्धीए ।
कलमलगमससोणियपुरीसकक्कालपाय ति ॥

यदि नारी के प्रति राग हो तो रागासक्त पुरुष सम्यक बुद्धिपूर्वक यों चिन्तन कर—अत्यन्त सुन्दर दीखन वाली नारी की देह उदरमल मास, रुधिर विष्ठा अस्थि ककाल मात्र ही तो है। इसमे कैसा राग! कैसी आसक्ति!

[६८]

रोगजरापरिणाम नरगाइविवागसगय अहवा ।
चलरागपरिणय जीयनासणविवागदोस त्ति ॥

एक समय आता है बड़ी सुन्दर देह रोग तथा वृद्धावस्था म ग्रस्त हो जाती है नरक गति आदि कठोर फलप्रद होती है। कितना आश्चय है ऐसी देह के प्रति चचलतापूर्ण राग उत्पन्न होता है जो जीवन को नष्ट कर दने वाला है तथा जिसका परिणाम दोषपूर्ण है।

[६९]

अत्थे रागम्मि उ अज्जणाइदुक्खसयसकुल तत्त ।
गमणपरिणामजुत्त कुगइविवाग च चिंतेज्जा ।

[७६]

उवओगो पुण एत्थ विन्नेओ जो समीवजोगो त्ति।
विहियकिरियागओ खलु अवितहभावो उ सव्वत्थ ॥

प्रस्तुत सन्दर्भ में समागत उपयोग शब्द को उप=समीप, योग=व्यापार, प्रवर्तन—इस अर्थ में लेते हैं तो इसका अभिप्राय शास्त्र प्रतिपादित क्रिया में सत्य भाव रखना—उसे सत्य मानना, वैसी निष्ठा लिये गन्तव्य पथ पर अग्रसर होना निष्पन्न होता है।

[७७]

एव अब्भासाओ तत्त परिणमय चित्तथेज्ज च ।
जायइ भावाणुगामी सिव सुहसाहग परम ॥

इस प्रकार अभ्यास करने से भावानुरूप तत्त्व परिणति—तत्त्व-साक्षात्कार होता है, चित्त में स्थिरता आती है तथा परम—सर्वोत्तम, अनुपम मोक्ष सुख प्राप्त होता है।

सम्चिन्तन—

[७८]

अहवा ओहेण चिय भणियविहाणाओ चेव भावेज्जा।
सत्ताइएसु मित्ताइए गुणे परमसविग्गो ॥

चिन्तन का एक और (उपयोगी तथा सुन्दर) प्रकार है—परम संविग्न—अत्यन्त संवेग या वैराग्य युक्त साधक शास्त्र प्रतिपादित विधान के अनुसार सामष्टिक रूप में प्राणी मात्र के प्रति मैत्री आदि गुणनिष्पन्न भावनाओं से अनुभावित रहे।

[७९]

सत्तेसु ताव मेत्तिं तहा पमोय गुणाहिएसु ति।
करुणामज्झत्थत्ते किलिस्समाणाविणीएसु ॥

सभी प्राणियों के प्रति मैत्री भाव, गुणाधिक—गुणों के कारण विशिष्ट

यदि मढक का शरीर जलकर राख हो गया हो तो फिर कितनी ही वर्षा क्यो न हो, वह सजीव नही होता।

योगसूत्र के टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने भी तत्ववशारदी (योगसूत्र की टीका) म यह उदाहरण प्रस्तुत किया है।

वस्तुत तथ्य यह है, सद्बोधमय निष्ठा तथा भावपूवक जो सत क्रिया की जाती है वह दोषो को सवथा क्षीण कर देती है, जिसस वे पुन नही उभर पात, जैस भस्म के रूप मे बदला हुआ मेढक का शरीर फिर क भी जीवित नही होता।

बाह्य क्रिया द्वारा दोषो का सवथा क्षय नही होता, उपशम मात्र होता है जिसम वे अनकूल स्थिति पाकर फिर उभर आते हैं जस टुकडे टुकडे बना मिटटी मे मिला मेढक का शरीर वर्षा होने पर जीवित हो जाता है।

[८७]

एव पुन पि दुहा मिम्मयकणगकलसोवम भणिय।
अन्नेहि वि इह मग्गे नामविवज्जासभेएण॥

अन्य परम्परा के आचार्यों—शास्त्रकारो (बौद्धो) न योग-माग म इसका नाम विपर्यास स—मात्र कथन भेद से मिटटी के घड तथा सोने के घड की उपमा द्वारा आख्यान किया है। भावना वजित बाह्य क्रिया—तप कम मिटटी के घट के सदृश है एव भावनानुप्राणित क्रिया स्वण-कलश के सदृश है। है दोनो घट ही पर दोनो की मूल्यवत्ता म भारी अ तर है।

यहाँ केवल विवचन की श दावली मे भिन्नता है, मूल तत्त्व एक ही है।

[८८]

तह कायपायणो न पुण चित्तमहिगिच्च बोहिसत्त त्ति।
होति तह भावणाओ आसयजोगेण सुद्धाओ॥

बौद्ध परम्परा म बोधिसत्त्व के सम्ब ध म कहा गया है कि वे काय-

पाती होते हैं, चित्तपाती नहीं होते। क्योंकि उत्तम आशय—अभिप्राय के कारण उनकी भावना—चित्तस्थिति शुद्ध होती है।

वास्तव में चित्त की परिशुद्धि नितान्त आवश्यक है। शरीर लाव व्यापृत हो सकता है क्योंकि शरीर का इन्द्रिया का यसा गुण धम है पर चित्त म यह आसंग नही आना चाहिए। बौद्ध दशन म प्रतिपादित हुआ है चित्त की रक्षा के लिए स्मति तथा सम्प्रजन्य की रक्षा अपक्षित है। धम में जिनका विधान किया गया है, जिनका निपध किया गया है उन्हे यथावत् स्मरण रखना स्मृति है। स्मृति को घर की रक्षा करने वाले द्वारपाल से उपमित किया गया है। द्वारपाल अवाञ्छित व्यक्ति को घर म प्रविष्ट नही हान दता, उसी प्रकार स्मृति अकुशल या पाप का नही आन देती। संप्रजन्य का अथ प्रत्यवेक्षण—काय और चित्त का निरीक्षण सपक्षण है। खाते पीते उठते, बठत, सोते जागते—हर क्रिया करते वसा करना नितान्त आवश्यक माना गया है। इसस शम उत्पन्न होता है जिसके प्रभाव से चित्त समाहित होता है। चित्त क समाहित होन स यथाभूत-दशन होता है। बौद्ध आचार्यों न बडा जोर देकर कहा है चित्त के अधीन सब धम हैं तथा बोधि धम के अधीन है।

[८९]

एमाइ जहोचियभावणाविसेसाओ जुज्जए सव्व।
मुक्काभिणिवेसं खलु निरूवियव्व सबुद्धीए॥

प्रस्तुत विवेचन यथोचित रूप म भावना की विशेषता स्थापित करता है। सद्बुद्धिशील योगाभ्यासी किसी भी प्रकार का दुराग्रह न रख उसे निरूपित करे—उसकी चर्चा करे जिज्ञासु जनो तक उस पहुचाये।

विकास प्रगति

[९०]

एएण पगारेण जायइ सामाइयस्स सुद्धि त्ति।
तत्तो सुक्कज्झाण कमेण तह केवल चेव॥

प्रकार सामायिक की—समत्व भाव की शुद्धावस्था प्रकट होती

विधि निषेधमूलक भाव जुड़ा हो, सहज रूप म अनुतस हो, तभी व्यक्ति माग का आराधक वहा जा मकता है, अन्यथा वैसी लेश्या तो इस अनादि जगत् मे अनेक बार आती ही है। अर्थात् यदि लेश्या उत्तम भी हो, तो भी आज्ञा योग के बिना जीवन का साध्य सधता नहीं।

[१०१]

ता इय आणाजोगो जइयव्वमजोगयत्थिणा सम्म।
एसो च्चिय भवविरहो सिद्धीए सया अविरहो य॥

अतएव अयोग—अयोगी गुणस्थान, जहाँ मानसिक वाचिक तथा कायिक योग—प्रवृत्ति सवथा निरम्त हो जाती है, चाहने वाले साधक को आज्ञायोग मे सम्यक्तया प्रयत्नशील रहना चाहिए—तदनुरूप विधि निषेध का यथावत पालन करते रहना चाहिए। इससे भव—ससार—जन्ममरण के चक्र से विरह—वियोग या पार्थक्य तथा सिद्धि—सिद्धावस्था—मोक्ष स शाश्वत काल के लिए अविरह—योग—सयोग हो जाता है—साधक मोक्ष से योजित हो जाता है जुड़ जाता है।

'भवविरह' शब्द द्वारा ग्रन्थकार ने अपने अभिधान का भी सूचन किया है। □

॥ योग शतक समाप्त ॥

योगविंशिका

परिशिष्ट

श्लोकानुक्रमणिका

योगदृष्टि समुच्चय

□□

योगबिन्दु

□□

योगशतक गाथानुक्रमणिका

□□

योगविंशिका गाथानुक्रमणिका